Chap-8

अष्टम् अध्याय

वर्ण्य, कथ्य और प्रस्तुति

सामाजिक मूल्यों की तलाश :

जिस समय नवगीत अपने स्थापित अवस्था की ओर मुखर हो रहा था, उस समय राजनीतिक अस्थिरता और परिवर्तित विचारधाराएँ इस देश में फैली हुईं थीं । सामाजिक मूल्य तेजी से टूट रहे थे । देशी और विदेशी, नये-नये विचार स्थापित हो रहे थे । हर नवीन विचार-धारा मानव जीवन के भविष्य की सुखद स्थितियों का दावा कर रही थी और आम आदमी के हित से जुड़ी हुई होने का साक्ष्य प्रस्तुत कर रही थी । सभी विचारधाराएं जीवन की व्यावहारिकता से सम्पन्न न थीं तथा अधिकांश मत सर्वहारा और गरीब तबके के लोगों के प्रति सहानुभूति प्रगट करता प्रतीत हो रहा था। इस दौरान संलग्न कईं रचनाकार कुछ ऐसे सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों से ग्रस्त होकर क्षणवाद और अस्तित्ववाद के भी शिकार हुए जिनकी पृष्ठभूमि न तो देश की जमीन से जुड़ी हुई थी और न ही हिन्दी-कविता की अन्तस्थ सहज वृत्तियों से ।

पाश्चात्य रूमानी कविता से प्रभावित छायावाद का सतरंगी काल्पनिक कथ्य नवगीत के आहार्य के रूप में एकत्र था । भाषा और अभिव्यंजना का तयशुदा साफ-सुथरा मैदान भी तैयार था किन्तु बदलाव का जो अपेक्षित अवसर था, उसी ने इस नवगीत को वर्ण्य एवम् कथ्य की ज़मीन पर नया मार्ग प्रशस्त करने के लिए बाध्य कर दिया । कुछ लोगों ने नवगीत को नयी कविता का नया संस्करण बताया, कुछ ने छायावाद की प्रतिक्रिया में इसे पल्लवित माना, कुछ विद्वान इसे एक नये काव्यान्दोलन की संज्ञा देते रहे हैं । कुछ इसे प्रस्थापित किसी भी मत से सम्बद्ध नहीं मानते, तो कुछ भारतीय संस्कृति से सम्पृक्त, गीत का एक सुखद बदलाव इसे स्वीकार करते हैं । कहने का तात्पर्य यही है कि, किसी निश्चित पक्षधरता के स्वीकार्य में ये नवगीत अपनी विकास-यात्रा पर अग्रसर नहीं हुआ।

विद्वानों ने इसे समकालीन मूल्यों के तहत अनेक मतवादी दृष्टिकोणों से विवेचित और विश्लेषित किया है ।

नवगीत के उदयकाल में समूचा राष्ट्र एक अव्यवस्था के साथ-साथ अनिश्चित भविष्य की ओर अग्रसर हो रहा था । लोक में पौराणिक और धार्मिक आख्यानक ग्रन्थों का ही प्रचार-प्रसार था ।अन्धविश्वासी आस्थाओं ने सामाजिक मूल्यों को जकड़ रखा था और इसी धार्मिक और नैतिक आस्था ने जन सामान्य के मन में राष्ट्रीय भावना का संचार किया था । इस राष्ट्रीय आन्दोलन के माध्यम से व्यक्ति कुछ बदलाव का अनुभव कर रहा था । धार्मिक जड़वादी आस्थाओं से निकलकर वह राष्ट्रीय आन्दोलन की व्यावहारिक भूमिका से जुड़ रहा था । गांधीजी के द्वारा व्यक्त वैष्णवत्व की उदारवादी और व्यावहारिक वैचारिकी ने आम आदमी को आकर्षित किया था । गांधी, लोहिया, जय प्रकाश जैसे समाजवादी विचारकों ने चिन्तन की नयी भूमि सामने रखी थी । प्रत्यक्ष रूप से नवगीत-कवि, राममनोहर लोहिया और गांधी के समाजवाद से प्रभावित नहीं भी रहा हो, तब भी प्रकारान्तर से उसके कथ्य में समाज के इस बदलाव का नज़रिया अवश्य समाविष्ट हो गया था । कुछ नवगीतकार तो व्यावहारिक रूप से समाजवादी आन्दोलन से जुड़कर इसके व्यावहारिक पक्ष से सम्बद्ध रहे थे । शम्भुनाथसिंह, अनूप अशेष, देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', कुमार शिव, शिव बहादुर सिंह ''भदौरिया'' व गुलाब सिंह आदि ऐसे ही नवगीतकार हैं जिन्होंने समाजवादी चिन्तन को सोच के नवीन आयामों के साथ नवगीत में समाविष्ट किया है । कुमार शिव लिखते हैं-

> **''जलपोतों के**
> **भीतर-बाहर मौन है ।**
> **निर्देशक**
> **इस सन्नाटे का कौन है ?**
> **प्रश्न कर रही**
> **मूक तटों से**
> **झील अंधेरे की ।''[१]**

अनूप अशेष की निम्न नवगीत-पंक्तियां भी कुछ ऐसी ही बात कहती हैं -

> **''सिलसिले**
> **चलते रहे**
> **जब भी मिले ।**
> > **एस सूना घाट**
> > **नीली - झील**
> > **खाली घर**
> > **साथ में**
> > **रोये - हंसे**
> > **दो - चार बातें कर**
> **याद के**

तिरते लहर में
काफ़िले ।"[२]

रामचन्द्र चन्द्रभूषण अपने समाजवादी संकल्पना को व्यक्त करते हुए कहते हैं -

"तोड़ूँगा शब्द
जोड़ूँगा सेतु
हाकूँगा रथ
बदलूँगा लीक
और सागर को यह चेतावनी भी
कि सुनो सागर
फिर उठाओ आंधियां"[३]

इसी तरह ज़हीर कुरेशी कहते हैं -

"हम स्वयं से भी
अपरिचित हो गये हैं ।
    रास्ते हैं
    और उनकी दूरियां हैं
    दूरियों की भी
    अलग मजबूरियां हैं
इस भटकते रास्तों में
खो गये हैं ।
    वासनाएं
    ज़िन्दगी से भी बड़ी हैं,
    प्यास बनकर
    उम्र की छत पर खड़ी हैं,
तृप्ति के पथ पर
मरुस्थल सो गये हैं ।"[४]

या फिर -

"भीतर से तो हम श्मशान हैं
बाहर मेले हैं ।
    कपड़े पहने हुए
    स्वयं को नंगे लगते हैं,
    दान दे रहे हैं
    फिर भी भिखमंगे लगते हैं,
ककड़ी के धोखे में

बिकते हुए करेले हैं ।
इतने चेहरे बदले
असली चेहरा याद नहीं,
जहां न अभिनय हो
ऐसा कोई संवाद नहीं,
हम द्वन्द्वों के रंगमंच के
पात्र अकेले हैं ।''[५]

इस सन्दर्भ में डॉ. सत्येन्द्र शर्मा लिखते हैं - ''वास्तव में व्यक्ति हो या समाज, उसके यथार्थ का खण्ड-खण्ड दृश्यांकन, लेखक की खण्ड-जीवन-दृष्टि के ही परिचायक हैं । क्योंकि व्यक्ति का अध्ययन उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि और सामाजिक इकाई का अध्ययन उसके परिवेश को अलग रखकर करना भूल होगी । सन्दर्भ को अलग रखकर वस्तुपरक विवेचना एकांगी होगी और ऐसा लेखन अपनी सामाजिक अर्थवत्ता और मानवीय प्रयोजन से च्युत होकर समाज और जीवन के लिए अप्रासंगिक हो जायेगा । व्यक्ति, समाज और जीवन को परिस्थितियों के प्रकाश के भीतर-बाहर से देखकर वस्तुपरक समग्र अध्ययन ही यथार्थवादी सृष्टि है । लेखक का संज्ञान और संवेदना ही इस अध्ययन को पूर्णता देंगे, तभी यह संभव होगा कि रचनाकार पाठकों के सामने विद्रूप यथार्थ के अलावा उसकी जिम्मेदारी शक्तियों का पर्दाफाश कर उनके खिलाफ चेतना जागृत कर सकेगा ।

यथार्थवाद की इस स्थापना के तारतम्य में नवगीत-कविता के जो पुरस्कर्ता इस श्रेणी में आते हैं, वे देवेन्द्र कुमार, राम सेंगर, उमाशंकर तिवारी, राजेन्द्र गौतम, श्रीकृष्ण तिवारी, सुधांशु उपाध्याय व सोमठाकुर हैं । देवेन्द्र कुमार, राम सेंगर, उमा शंकर तिवारी व श्री कृष्ण तिवारी की यथार्थवादी दृष्टि इस श्रेणी के अन्य रचनाकारों से भिन्न कोटि की है । इन चारों रचनाकारों में वस्तुगत यथार्थ भर नहीं है, वरन् उस यथार्थ का परिदृश्य भी संकेतित रहता है । देवेन्द्रकुमार की ये पंक्तियां देखें-

''धूप में तनकर खड़े हैं पेड़
अंधेरे में खासकर जो बन गये थे
ऊंट, घोड़ा, गाय, बकरी - भेड़
....
शाह का एलान
या आंधी
फिर हवा की डुगडुगी बजी
खेत पर
कब्जा किये हैं / मेड़ ।''

इन रचनाकारों में सामाजिक यथार्थ की विरूपता के चित्र-दर-चित्र मिलते हैं । किन्तु उनकी विशेषता इस बात में है कि वे कहीं भी गीतात्मक ऋजुता व व्यंग्यभाव को छोड़कर सपाटबयानी और शुष्क कथन के शिकार नहीं होते । इनमें सामाजिक विसंगतियों तथा आर्थिक प्रवंचनाओं के प्रति आक्रोश

भी है और विद्रोह का भाव भी, किन्तु वह एक रचनात्मक संयम के साथ-साथ व्यक्त होता है -

"एक अन्धी-अपेक्षा की खीझ में
नोंचते निरुपाय अपने पर
थी न गुंजाइश
मगर अब क्या करें
उग रहीं जब नागफनियां खेत में
यों निहत्थे
लड़ रहे इस युद्ध में
सूचियों में नाम है फिर भी
सिर्फ जीने की निरर्थक शर्त पर
रख दिया ईमान तक गिरवी ।"[६]

नवगीत का सर्वाधिक सुखद और सन्तोषप्रद बदलाव हमें जनवादी स्वर में दिखाई पड़ता है । जब गीतकार वायवी परिकल्पनाओं के भव्य भवनों से उतर कर गांव और कस्बोंकी झुग्गी-झोपड़ियों तक पैदल चला आता है । शहर की चकाचौंध से दूर वह गांव के परिवेश की गन्दगी से रू-ब-रू होता है, वहां के अभावों से, निर्धनता से, संत्रास और दमन से जुड़कर अपनों के बीच जोड़ने का साहस करता है । रूमानी कल्पना की उड़ान से उतर कर वह ज़मीन पर आता है । शहर की प्रदूषित बदलाव से वह घबराता है । गांव से भागकर शहर आया हुआ आदमी शहर के सम्मोहन से दूर होने लगता है -

"कत्लगाह तक लाकर
छोड़ गयी
मुझको इस शहर की हवा ।
चढ़ी उमर-सी पक्की सड़कों ने
माटी-से मन की,
हर गन्ध लूट ली,
लाल, हरी, पीली रोशनियों में
तन की परछाईं तक छूट ली,
तेज धार दुपहर की धूप में
छोड़ गयी
मुझको इस शहर की हवा ।"[७]

शहरी ज़िन्दगी से वह शीघ्र ही ऊब जाता है । वह शहर छोड़कर जाये भी तो कैसे ? यहां रहना उसकी विवशता है, आखिर वह क्या करे -

"इस तरह मौसम बदलता है
बताओ क्या करें ?

शाम को सूरज निकलता है
बताओ क्या करें ?
यह शहर वह है कि जिसमें
आदमी को देखकर -
आइना चेहरे बदलता है,
बताओ क्या करें ?
आदतें मेरी किसी के
होंठ की मुस्कान थीं,
अब इन्हीं से जी दहलता है,
बताओ क्या करें ?''[८]

डॉ. विनोद निगम लिखते हैं -

''बहरी आवाजों के घेरे,
ध्वनियों के छोड़कर अँधेरे,
गीतों के गाँव चले आये
हम नंगे पाँव चले आये ।
सड़कें थीं, सड़कों में घर थे
कोलाहल से भरे सफर थे,
हम थे सूखे वृक्षों जैसे,
जंगल से जल रहे शहर थे,
छोड़ सुलगते सवाल सारे,
सारे सम्बन्ध रख किनारे
अपनी चौपाल चले आये,
बेबस बेहाल चले आये ।''[९]

प्रदूषण केवल शहर में व्याप्त अस्वस्थता का ही नहीं है, राजनीतिक स्वार्थों और षड्यन्त्रों के तहत गाँव-देहात भी अपने मूल स्वरूप से हटकर बदरंग होते जा रहे हैं । ग्रामीण संस्कृति तीव्रता से विनष्ट हो रही है । गाँव का शहरीकरण होना, वहाँ कल-कारखानों का स्थापित होना और औद्योगिक विकास के क्रम में ग्राम-संस्कृति का समूल नष्ट होना जनवाद के परिप्रेक्ष्य में एक सही मनःस्थिति इन नवगीतों में व्यक्त है । माहेश्वर तिवारी ठीक ही कहते हैं -

''रंग भरी संध्याएं लगती हैं
तितली के कटे हुए पंख ।
कुहरे में डूब गये झोंपड़े
लगते हैं, टूट गये शंख ।
बंजर धरती, सूखे तालों में

हांफ रहा है मेरा गांव ।
कोहरीले धुएं और बढ़े
घुप अंधेरे में
सन्नाटा चीर गया पांव ।"[१०]

आम आदमी, जो ग्रामीण परिवेश में गुजर-बशर कर शहर में जीवन बिता रहा है और शहरी सन्त्रास को झेलता हुआ जब आक्रोश से भर जाता है तो नवगीतकार उसकी आन्दोलित संचेतना को व्यक्त करता हुआ कहता है -

"हाथ में पत्थर लिये
बेखौफ़
शहर की हद तक चले आये
गाँव के ये लोग अधनंगे
गाँव के सरपंच कहते हैं
वे शहर की धूप बाटेंगे
चांदनी के भाग कर देंगे
वे नदी की धार काटेंगे
हांथ में जलती मशालें ले
भीड़ सूरज का करे बन्दन
सोचिये, ये सोच बेढंगे
शहर की हद तक चले आये ।"[११]

जनवादी सोच से जब भी गीतकार जुड़ा है, उसके सामने भूखे, नंगे, निराश व हताश उस आदमी की छवि सामने आयी है, जो प्रतिदिन आजीविका के लिए, अपने अधिकार के लिए और ज़िन्दा रहने के लिए सतत संघर्षशील है । नवगीतकार इस नैराश्य को बार-बार व्यक्त करता रहा है -

"हो रहा है सिन्धु मंथन
कर रहे सुर असुर क्रन्दन
निकलता है एक नीला ज़हर
बस्ती काँपती है ।
थरथराते बाँस के जंगल
अचानक
छूटते अमरावती से बान-विद्युत
आम्र बन धूं-धूं सुलगने लग गया,
सद्य निर्मित घोंसले जल राख होते
सुगबुगाती अब बिचारी बया रोती
पक्षियों में गीध जगने लग गया ।

टिड्डियों ने सूर्य का रथ रोक डाला
उड़ चलीं चमगादड़ें उल्टी लटकतीं,
रुख बदलता, आंधियों की बाँह थामे,
विषम ज्वर का फैलता है कहर
बस्ती काँपती है ।''[१२]

वैसे भी सामाजिक व्यवस्था का सबसे बड़ा शिकार वह आम आदमी ही रहा है, जो स्वयं की अस्मिता को सुरक्षित रखने के लिए हर पल संघर्षरत रहा है । संतुष्टि, हर्षोल्लास, सुख, खुशियाँ जैसे आनन्द के क्षण उसकी ज़िन्दगी से तिरोहित हो गये हैं । वह बार-बार ज़िन्दगी को स्थापित करने की चेष्टा करता है और बार-बार आरोपित व्यवस्था उसे उजाड़ फेंकती है । नवगीतकार कहता है -

''इस अँधेरे - गीधवन के
बरगदों पर,
ऐ बया ! तू क्यों बनाती घौंसला ??...
ऐ बया, तू गीत मत गा
गीत सुन कोई सिपाही
तीर तेरे कण्ठ में खच सा गड़ा देगा
ऐ बया, मत चहक
खुश मत हो, यहाँ पर
पंच परमेश्वर
तुझे चौपाल पर
फाँसी चढ़ा देगा ।
भाग जा, उड़ जा
अभागी तू बया,
इस वनांचल से
व्यर्थ है यह घर बसाने की कला ।।''[१३]

व्यवस्था में बदलाव आता है । कुछ नये मुखौटे सभ्यता के आवरण में आश्वस्ति व धैर्य प्रदान करते हुए आते हैं, किन्तु आम आदमी का इनपर से अब विश्वास ही हट गया है । कवि आगे कहता है-

''आप बस्ती में रहेंगे
आदमी बन
छोड़िये बेकार की बातें ।।
ज्यों ढला सूरज
कि कैंचुल छोड़ती-सी,
भूत-सी काली भयावह फैलती हैं,

हाल ये, आत्मीय-सी परिछाइयों का है ।
जंगली फल
पेड़ से टूटा
शिला-दर-शिला होता
जा गिरा विकराल मुँह में
ये चलन अनजान अन्धी खाइयों का है ।
कल तलक गुलज़ार ये होगा चमन,
छोड़िये बेकार की बातें ।।''[१४]

निराला से लेकर आज तक का नवगीत समाज-व्यवस्था की इसी त्रासदी से रू-ब-रू रहा है। आम आदमी के दर्द से जुड़ा हुआ यह 'नवगीत' गांवों, कस्बों, देहातों, श्रमजीवियों, किसानों, लकड़हारों, मजदूरों, बंधुआ, अनुबन्धित सेवकों, दासों और गुलामों के प्रतिदिन की घटनाओं को स्वर देता रहा है । छोटी-छोटी खुशियाँ, बड़े-बड़े दुख, थोड़ी सी राहत, बड़े-बड़े आश्वासन, मुहैया करा दिये जाते हैं । परिणामतः यह सर्वहारा, टूटा हुआ, दमित व शोषित आम आदमी या तो क्लीव और कापुरुष बनकर किसी मंदिर या मस्जिद की देहरी पर प्रार्थना या इबादत की आवाज में मिमियाता नज़र आता है, या फिर जुझारू होकर हाथ में हंसिया या हथौड़ा लेकर सड़कों पर आकर मरने-मारने के लिए प्रतिबद्ध हो जाता है ।

नवगीतकार आम आदमी की परिवारिकता और सामाजिकता से रू-ब-रू होता हुआ उसकी नित्य-प्रति की ज़िन्दगी को तलाशता है । इसी तलाश के तहत वह गांव के लोकोत्सवों में शामिल होता है । दैनिक आमोद-प्रमोद में जुड़ता है । आयातित अवसादों और पीड़ाओं में रोने-कलपने में साझेदार होता है, या फिर किसी ठाकुर, चौधरी, सेठ-साहूकार, मिल मालिक या जमींदार के सामने खुलकर अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए जंग का ऐलान कर देता है ।

स्वतन्त्र भारत में अशिक्षा, अन्धविश्वास और अज्ञान के चलते यहां का व्यक्ति कदम-कदम पर शोषण का शिकार होता है । वह शोषण आर्थिक से लेकर धार्मिक, सामाजिक, प्रशासनिक और राजनीतिक उत्पीड़नों का है । हजारों वर्षों से बनी आ रही उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के बीच की खाईं बहुत अधिक गहरा गई है । वोट की स्वार्थपूर्ण राजनीति के चलते अवर्णों को कथित तौर पर ऊपर उठाने के लिए जो नीतियां लागू की गईं उनसे उनका जीवन स्तर उस अनुपात में नहीं उठा जितना वर्णवाद का भेद और गहरा हुआ । ''कैसी विडम्बना है कि कम पढ़े-लिखे और गुलाम भारत में जातिवाद का सर्प इतना विषैला, घातक और सर्वव्यापी न था जितना स्वतन्त्रता पाने के बाद होता चला गया। जातिगत आधार पर चुनाव लड़े जाने लगे । जिन सवर्णों को समुचित सुविधाएँ देकर राष्ट्रीय विकास की मूलधारा से जोड़ा जाना चाहिए था, उन्हें आरक्षण की वैसाखी पर खड़ाकर सत्ता का मुखापेक्षी बनाये रखा गया । वह वर्ग ग्लानि, कुण्ठा और अपनी बदहाली की कहानी आज भी कह रहा है ।''[१५] नवगीत-कवि ने ऐसी दुर्घटना को इस तरह अभिव्यक्ति दी है -

"धूप मछुआरिन के
जाल फँसी रोहू-सी
इसकी हर हैसियत
गरीब की पतोहू-सी
दो रोटी-धोती को
आपसी अदावत है ।
घोड़ों के लिए उगी-
घास है, बगीचा है ।
कुर्सी के पांव तले
गुदगुदा गलीचा है ।
हर पंचवे साल
प्रजातन्त्र की सजावट है ।"[१६]

०० ०० ०० ०० ००

"महुए नहीं, मुकदमे फूले
लाठी फलें बगीचे ।
जिनकी बांहें नदी खून की
पंच पांव के नीचे ।
'लगुआ' की छलनी छाती पर
लटके सूद सिरोही ।"[१७]

सुधांशु उपाध्याय लिखते हैं -

"चारो तरफ धुंआ है ।
पूरी चमरौटी में केवल
एक कुंआ है !
राजा राजा, प्रजा प्रजा है
तीन पीढ़ियों का कर्जा है
कन्धे बदले
वही जुआ है !"[१८]

हमारे यहां शारीरिक श्रम की जो अवमानना और अवमूल्यन होता है, उसका प्रत्यक्ष उदाहरण किसी खेतिहर या मजदूर की ज़िन्दगी, उसके आर्थिक आय-व्यय और रहन-सहन से देखा जा सकता है । नवगीतकार कुँअर बेचैन ने इस ज़िन्दगी को इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है -

"एक सीढ़ी और चढ़ आया
समय इस साल

जाने छत कहां है ?
प्राण तो है प्राण
जिनको देह-धनु से
छूटना है,
ज़िन्दगी-उपवास
जिसको शाम के क्षण
टूटना है,
हर समय के हाथ से
छूटे हुए रूमाल,
जाने छत कहां है ।''[१९]

जिस देश की अर्थ-व्यवस्था का सबसे बड़ा आधार अब तक खेती हो, उस आधार-क्षेत्र की उपेक्षा न केवल चिन्तनीय है, अपितु आनुषांगिक परिणाम दिखायी पड़ने लगे हैं । बीज, खाद और खेती के कार्य आनेवाले यांत्रिक औजारों की पूंजीपतियों या जमींदारो द्वारा तयशुदा कीमतें, अनुपलब्धता, पानी और बिजली का संकट और तिस पर किसान को खटमल की तरह चूसती प्रशासनिक मशीनरी आदि के कारण समाज के इस वर्ग की हालत लगातार खराब होती जा रही है । यह अकथ-कथा नवगीत-काव्य में अनेक रूपों में अनेक तरह से व्यक्त हुई है । यथा -

''गिरदावल की मर्जी
अपनी अर्जी है,
इन्तखाब पर सौ,
पचास पर पर्ची है,
खेती अपनी है
नक्शे पटवारी के ।
चकबन्दी की चख-चख
सहन ओसारे में,
बात-बात के
मुद्दे हैं बंटवारे में
बात-बात में है
रंग पट्टीदारी के ।''[२०]

एक दूसरी अभिव्यक्ति देखें -

''गरदन एक हज़ारों फ़न्दे
देने को अपने ही कन्धे
कितने दस्तावेज़ लिखोगे पानी पर ।
कोई आंधी दिया गुल करे
कोई बाग उजाड़े

कोई तपते माथे पर
हंस-हंस कर कीलें गाड़े,
भूख-प्यास के बोझ तोलते
भरे धुंए में पंख खोलते
तब तक लिये पहाड़ टिकोगे पानी पर ।"[२१]

सामाजिक-आर्थिक शोषण के विविध सन्दर्भों के 'खुलकर नहीं कहने' का गहरा लाक्षणिक भाव नवगीत-काव्य में मुखर है । हमारे यहां धर्म को साम्प्रदायिकता का जामा पहनाकर, धार्मिक उन्माद उत्पन्न कर धार्मिक शोषण के रंग हैं । भाषा के प्रश्न पर भारतीय भाषाओं को आपस में लड़ाने और अंग्रेजी को लादे रहने का भावनागत शोषण अभी भी जारी है । क्षेत्रीय विकास में असन्तुलन पैदा कर क्षेत्रवाद को बढ़ाने के अहंवादी शोषण है । पूँजीवादी और सामन्ती प्रवृत्ति से बर्बर और असीमित अत्याचार हैं, पूंजीवाद के अमानवीय करतब है । सत्ता के नये-नये बहुरूपी मुखौटे हैं । यह कभी गरीबी हटाओ, कभी मच्छर भगाओ और कभी 'भारत बचाओ' का नारा देकर सत्तासीन होती है । परिणाम स्वरूप यथास्थिति बनी हुई है । शोषण, दमन, संताप और स्वार्थ का सन्नाटा अधिक गहरा हुआ है -

"भय न भगै
भरम ना जावै
काली करनी हाड़ बजावै
जनता का दुख नाच नचावै
ऐसि राज गारत ह्वै जावै ।"[२२]

इस समाज-व्यवस्था के चलते गरीब अधिक गरीब और अमीर अधिक हुए हैं । राजनीति पूँजी के आग़ोश में गिरफ़्त है । सामन्ती बर्बरताएं और प्रवृत्तियां बलशाली हुई हैं । स्थिति बद से बदतर होती जा रही है -

"बिट्टो की अभी खबर आई है
वह मरकर जीवित परछाई है
घाघरे का खून
अभी ताज़ा है
मुल्ज़िम को खास की दुआ है
पूरा गांव नींद का सगा है
नया-नया तपेदिक लगा है
भूख-प्यास
इसे नहीं लगती
पर्चे में हुकुम यह हुआ है ।"[२३]

सामाजिक-आर्थिक शोषण की प्रवृत्ति व्यवस्था के 'भूल जाओ और माफ करो' की प्रवृत्ति से आरम्भ होकर भ्रष्टाचार की सार्वजनिक अनुशंसा पर परिणत हुई है । उत्पादक क्षेत्रों में पूंजी-निवेश की जगह

अनुत्पादक क्षेत्रों में पूंजी-व्यय समृद्ध हुआ है । व्यवस्था ने अपनी खुश फहमी के लिए प्रगति के मानदण्ड बदल लिये हैं । बेरोजगारी के शिकार बने खाली हाथ बैठे नौजवानों और एक बड़ी संख्या का गरीबी रेखा के नीचे जीवन-यापन के लिए विवश परिस्थिति वाले देश में अनेक सितारा होटल और रंगीन दूरदर्शन जैसी भोग-विलासी प्रवृत्ति की प्राथमिकता दी जा रही है ।''[२४] केदारनाथ अग्रवाल के शब्दों में - ''देश की राजनीति. अपने ढंग से इधर से उधर चलती-चलाती रही और यथास्थिति की व्यवस्था लगातार, अब तक आम आदमी के सिर पर भूत की तरह सवार रही और वह एक भ्रम से दूसरे भ्रम तक, भटकता-भूलता, जैसे-तैसे, दुःख-दर्द लिए-लिए जीता रहा और भीतर ही भीतर सरकार और नेताओं के खिलाफ अपनी मानसिकता बनाता रहा ।''[२५]

किसी भी समाज की प्रगति का मानदण्ड नारी की स्थिति से आंका जा सकता है । यह मान्यता अचानक चौंकाने वाली लग सकती है किन्तु किन्चित गम्भीरता से विचार करेंगे तो पायेंगे कि, उन्नत समाज की प्राथमिक बुनियाद स्वतंत्र, शिक्षित, आत्मनिर्भर और संस्कारित औरत हैं, क्योंकि उन पर प्रत्येक नयी पीढ़ी को संवारने का दायित्व है । वह राष्ट्र के भावी नागरिक, बच्चे को शिक्षा, व्यक्तित्व व संस्कार प्रदान करती है । दुर्भाग्य से भारतीय नारी की स्थिति हमेशा दोयम दर्जे की रही है । उसे न सिर्फ पुरुष से हीन समझा गया, अपितु प्रत्येक मामले में उसे पुरुष की क्रीतदासी समझा गया है। डॉ. सत्येन्द्र शर्मा के अनुसार - ''सच पूछिये तो औरत के प्रति दृष्टिकोण भी वह बिन्दु है जिसमें हमारी आधुनिकता के दावों के परखचे उड़ जाते हैं । भारतीय सत्ताधीशों ने पुरुषों की तरह मताधिकार देने के अतिरिक्त स्त्रियों के उन्नयन के लिए क्या किया ?... इसका पता राजीव गांधी की सरकार द्वारा पारित मुस्लिम महिला कानून से लगाया जा सकता है, जिसमें धर्म में हस्तक्षेप करने की आड़ में अन्ततोगत्वा महिला की अवमानना करने को प्रोत्साहित किया गया है ।''[२६] भारतीय नारी के सन्दर्भ में विख्यात समाजवादी डा. राम मनोहर लोहिया यथार्थपरक और सर्वांगमुखी चिन्ता व्यक्त करते हुए कहते हैं - ''औरत को हिन्दुस्तान में बहुत ही दुःखी बना दिया गया है, नसल बिगाड़ दी गई है खाने तक में ।''[२७] समाज की यह विद्रूपता नवगीतों में सजीवता के साथ चित्रांकित हुई है । गीतकार विजयकिशोर 'मानव' की यथार्थवादी दृष्टि कहती है -

''चिन्दी-चिन्दी मां का आंचल
झुर्री-झुर्री चेहरा,
बहना के सपनों पर
अपनी कंगाली का पहरा
फिर भी हम माने बैठे हैं
सबके दाता राम ।''[२८]

इसी प्रकार दिनेशसिंह 'बासन्ती' के माध्यम से भारतीय नारी की दयनीय स्थिति और उसकी दुर्दशा को रेखांकित करते हुए लिखते हैं -

''दुख मेरे मैके से आया
सासू का बड़बोला जाया
सुख की खेती जोते-बोये

बासन्ती आठ पहर रोये ।...
मैना के बोल वहां होंगे
पिया के किलोल जहां होंगे
पूजा के फूल हंसें - पूछें
सेजा के फूल कहां होंगे
दूध धरे आंचल की छाया
कथरी-सी ठठरायी काया
टांक-टांक बैठकर टटोये
बासन्ती आठ पहर रोये ।''[२९]

पारिवारिक और सामाजिक वर्जनाएं सिर्फ प्रतिबन्ध नहीं कही जा सकतीं बल्कि वे आतंकदाय अलिखित सूत्र हैं, जिसके सहारे नारी को लगभग कैद कर रखा जा रहा है । इस देश में आर्थिक दृष्टिकोण से तो उसकी सत्ता भौतिक पदार्थ से अधिक नहीं है । इस सन्दर्भ में एक बड़ा अन्तर्विरोध यह भी देखने को मिलता है कि शिक्षित, पढ़ी-लिखी, नौकरी-पेशे से आत्मनिर्भर स्त्री भी यदि विवाह में अपनी सामर्थ्य से अधिक दहेज में नहीं ला पाती तो उसकी ज़िन्दगी सुरक्षित नहीं समझी जा सकती । उसके जीवन-सुरक्षा की कोई गारन्टी नहीं है । हालांकि गारन्टी तो वैसे भी नहीं है । प्रतिदिन दहेज की बलि पर चढ़ती स्त्रियों के आंकड़े इस बात के प्रमाण हैं । इस घृणित और अमानवीय सामाजिक विसंगति या कुकृत्य से भी नवगीत-कवि बावस्ता हुआ है -

''अंजुरी के फूल जले
आग हुई बेला की सेज
सुखी रहे
माथे का
सिन्दूरी ठांव
बदले में रेहन हुआ
है सारा गांव
पूरा पर हुआ नहीं सांस का दहेज ।''[३०]

नगर हो या गांव, समाज में नारी का शोषण सभी जगह व्याप्त है । हर स्थिति में वह शोषण का शिकार हुई है । इसका उत्तरदायित्व पुरुष-वर्ग को तो जाता ही है, काफी हद तक इसके लिए औरतें भी जिम्मेदार हैं । इस सन्दर्भ में यहां अधिक कहना उचित प्रतीत नहीं होता । नवगीतों में समाज की इस दुष्प्रवृत्ति का कई जगह चित्रांकन हुआ है -

''सुबह-शाम खटती है
बेचन की मां ।
इंच-इंच घटती है
बेचन की मां ।

आंखों के इर्द-गिर्द
मकड़ी के जाले,
घर-घर में बांट रही
धूप के निवाले,
जगह-जगह बंटती है
बेचन की मां ।
कागज - सी फटती है
बेचन की मां ।"[३१]

या फिर -

"उपले पाथेगी,
बासन मांजेगी,
पारबती अपने दिन
यों ही काटेगी ।
आंखों में
जंगल या
पांतर होगा,
माथे पर
लकड़ी का
गट्ठर होगा,
गुमसुम आयेगी
गुमसुम जायेगी
सूरज या बादल की
ओर न ताकेगी ।"[३२]

हजारों वर्ष बीत गये । आज भी नारी की स्थिति वैसी ही बनी हुई है । आज भी यह चहारदीवारी से बाहर आने के लिए तड़प रही है । वह भी खुली हवा में सांसे लेना चाहती है, अपने पंख खोलकर स्वतंत्र रूप से आकाश में उड़ना चाहती है । यद्यपि पर्याप्त प्रगति के बावजूद भी आज यह बन्धनों में कैद है । पुरुष प्रधान समाज की शिकार वह आज भी बनी हुई है । नवगीतकार कुंअर बेचैन की इन नवगीत-पंक्तियों में नारी की इस व्यथा की अभिव्यक्ति कितनी मार्मिक बन पड़ी है -

"समन्दर में कहाँ जाकर नहाऊँ
खड़ी तट पर नदी यह सोचती है ।
गया द्वापर हजारों वर्ष बीते
अभी तक हैं हमारे हाथ रीते
अभी भी सामने चौसर बिछी है
हमीं हारे, हमेशा 'और' जीते

कहाँ जा लाज मैं अपनी बचाऊँ
अभी तक द्रौपदी यह सोचती है ।''[३३]

नवगीत ने नारी को विशुद्ध मानवी, स्वतन्त्र चेता, सुसंस्कृत और समुन्नत औरत की गरिमा प्रदान की है । छायावादी रचनाओं में वह देवी या अतिमानव और छायावादोत्तर काव्य में वह शरीर मात्र बनकर रह गई । यहां तक कि अज्ञेय की रचनाओं में भी वह 'कनक चम्पे की कली' बनकर रह गई जो 'दूर से ही स्मरण में भी गन्ध देती है (बावरा अहेरी - पृष्ठ २७)' । किन्तु वही नारी वंशी की मन्त्रपूत ध्वनि के साथ नवगीत-काव्य में खुले अम्बर वाले आँगन में अवतरित हुई -

''मेड़ वंशी-सी बजाती है
एक लड़की की सयानी देह
खुरपियों तक थरथराती है
होंठ के बाहर निराई गीत
होंठ के भीतर किसी का नाम...
चूड़ियों में टूटती मरज़ाद अब तो खनखनाती है ।''[३४]

खेत की मेड़ में कार्यरत तन्वंगी की यह सुषमा उसके यौवन की आन्तरिक भावनाएं काव्य-मर्यादा के तटों को स्पर्श करती हुईं शृंगार का एक प्रशस्त और पुष्ट चित्र उभारती हैं । यहां यह गौरतलब है कि शृंगार मात्र शृंगार के लिए नहीं है, वह कर्मनिष्ठ है । जीवन-व्यापार में अन्तर्मुक्त है । प्रगतिशील साहित्य चेतना के दो शुभ प्रभाव गीत-रचना पर पड़े । पहला तो यही कि गीतकारों के लिए भी ज़िन्दगी की सच्चाई कल्पना की रमणीयता से क्रमशः अधिक महत्वपूर्ण होने लगी । वीरेन्द्र मिश्र की यह पंक्ति 'दूर होती जा रही है कल्पना, पास आती जा रही है ज़िन्दगी' इस तथ्य की पुष्टि करती है और यही स्वीकृति है । अपनी पीड़ा या प्रिया के अश्रु ही गीतकार के लिए सब कुछ नहीं रह गये, हर पांव में पड़ी जंजीर उसे सर्वाधिक 'गमगीन' बनाने लगी । वीरेन्द्र मिश्र की यह त्रिमुखी पीड़ा देखें जो नारी की एक दूसरी व्यथा की कहानी कहती है -

''पीर मेरी कर रही ग़मगीन मुझको
और उससे भी अधिक तेरे नयन का नीर रानी
और उससे भी अधिक हर पाँव की जंजीर रानी ।''[३५]

नवगीत में नारी व्यथा का विविध रूपों में चित्रण हुआ है । समाज चाहे ग्राम-देहात का हो अथवा शहर का । हर जगह नारी की स्थिति अत्यधिक चिन्तनीय है । निर्मलेन्दु शुक्ल लिखते हैं -

''जो कुछ पास रहा सब खोया
अब क्या खोयें हम ।
आखिर इन मुर्दा रिश्तों को
कब तक ढोएं हम ।
होठों पर मोहक मुस्कानें

रूप सलोना है,
लेकिन दिल का हाल न पूछो
बड़ा घिनौना है,
इन पर अपनी खुशी लुटाकर
कब तक रोएं हम...
निंदियारे नयनों से निंदियां
दूर-दूर भागे,
हुई सयानी बिटिया
बप्पा रात-रात जागे,
अम्मा पूछे कब तक यूँ ही
नैन भिगोएं हम ।''[३६]

नवगीतकार ज़हीर कुरेशी ने शहर में व्यस्त ज़िन्दगी की भागदौड़ और आपाधापी में खटती-पिसती नारी का बड़ा स्वाभाविक और मार्मिक चित्र उकेरा है -

''उड़ती चिड़िया
अपना ठौर-ठिकाना भूल गयी ।
सड़कों ने दिन भर
दुर्घटनाओं के पाठ पढ़े ।
पैर हुए अभ्यस्त
दौड़कर 'बस' पर रोज चढ़े ।
माँ बेटी को
ऊँच-नीच समझाना भूल गयी !
पत्नी निकली सुबह
शाम को दफ्तर से लौटी ।
पति की 'नाइट-शिफ्ट'
सात दिन में फिर से लौटी ।
'लाजो' दिल्ली में बसकर
शरमाना भूल गयी !''[३७]

डा. सत्येन्द्र शर्मा लिखते हैं - ''शोषण सन्दर्भों को उघाड़ने और सामाजिक चेतना को जागृत करने में क्या साहित्य की कोई भूमिका नहीं है ? तो क्या समाजार्थिक धरातल से कटे हुए हवा लोक का सृजन ही साहित्य का उद्देश्य है ? और यह भी कि यदि नारी या अन्य शोषित वर्गों को लेकर रचनाकार का दृष्टिकोण भी दृष्टिविहीन और शोषण का पोषक है तो ऐसा साहित्य ओमप्रकाश शर्मा, कर्नल रंजीत या रानू के लेखन से किस कदर भिन्न है ? इन प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में नवगीत-कविता का आकलन सुखद और तुष्टिदायक है । उसमें समाज के उन सारे प्रश्नों को रचनात्मक अभिव्यक्ति मिली है जो एक विकासशील और उन्नत समाज की रचना के अनिवार्य विचारणीय बिन्दु हैं ।''[३८]

काव्य के मूल्यांकन का सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण आधार उसकी सामाजिक संलग्नता है । भारतीय काव्य-परम्परा में रचना की सामाजिक सम्प्रक्ति उसका अतिरिक्त वैशिष्ट्य नहीं, वरन् सहज चेतना है। यह अवश्य है कि वस्तुगत यथार्थ की कलात्मक प्रस्तुति के सामंजस्य की ओर भी हमारा प्रबल आग्रह है । नवगीतकर्ता 'जन-साहित्य, जनता का साहित्य, जनवादी साहित्य, सर्वहारा कला या आम आदमी का साहित्य' जैसे, वाद-संवाद से पृथक रहकर कथित घोषित प्रतिबद्धता के बग़ैर सामाजिक भूमि से रचना के सूत्र संयोजित करते रहे । फिर भी लेनिन के द्वारा निर्धारित लेखन के मानदण्ड-विचारों की गहराई, पाठकों में नये प्रश्न उभारने और उनकी चिन्तन शक्ति को गति देने की प्रवृत्ति नवगीत में देखी जा सकती है । नवगीत-काव्य की बोधगम्यता उसके सामाजिक सरोकारों को ही प्रमाणित करती है । अन्यथा सामाजिक अभिप्रायों से संकलित कविता भी सहज सम्प्रेष्य न होने के कारण कैसे पहेली बनकर रह जाती है, यह तथ्य छायावादोत्तर काव्यान्दोलनों, विशेषकर नयी कविता के परिप्रेक्ष्य में हमने देखा है । हमें यह स्मरण होना चाहिए कि समकालीन काव्य-जगत में सामाजिक यथार्थ या परिवेश की अत्यन्त संकीर्ण रेखाएं अनेक बार खींची गई हैं । एक छोटे अभिजात्य वर्ग की दुनिया को ही समाज बनाकर प्रस्तुत किया गया है । यह स्पष्ट कर लेना होगा कि नवगीत का समाज इतना संकीर्ण, इतना संकुचित कभी नहीं रहा । बल्कि जिस व्यापक समाज का वह रचना सहचर है, वह 'समाज' से अधिक 'लोक' शब्द से व्यवहृत किये जाने की अपेक्षा रखता है । वैसे भी 'लोक' में अपेक्षतया अधिक व्याप्ति है, और 'समाज' एक दायरे में प्रतिबद्ध प्रतीत होता है । कबीर, सूर, तुलसी, मीरां आदि के काव्य में 'लोक' ही है, जिसमें समाज अन्तर्निहित है ।

अतः नवगीत की सामाजिक परिकल्पना वायवी, अमूर्त या मात्र भावनालोक नहीं है, बल्कि उसका समाज वही है जिसमें अधिसंख्य जन जीते हैं । उसका समाज एक खुरदुरा यथार्थ लोक हैं जिसमें मानवीय उष्मा और विकृतियां भी हैं। नवगीत में वस्तुगत यथार्थ तो व्यक्त है ही, वह सामाजिक उच्चाकांक्षा भी प्रकट हुई है जिसमें आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक न्याय सबको सुलभहो । सामन्ती और पूंजीवादी शोषण प्रवृत्ति लेशमात्र भी न हो । खुली हुई जनतान्त्रिक शासन पद्धति हो जिसमें विकेन्द्रित ढांचा और सत्ता के सूत्र वास्तव में जन-सामान्य के द्वारा बुने गये हों । दर असल, नवगीत की जीवन दृष्टि किसी दर्शन या वाद पर आधारित न होकर विभिन्न मतवादों के प्रकाश में भारतीय सामाजिक ज़मीन से ही जन्मी है ।

राजनीतिक परिदृश्य बनाम व्यवस्था के प्रति आक्रोश :

जिस राजनीतिक चेतना ने विश्व की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति ब्रिटेन को अपना डेरा उठाने के लिए विवश कर दिया और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव-इतिहास का सबसे अद्‌भुत एवम् अभूतपूर्व युद्ध लड़ा गया, स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात उसी राजनीतिक चेतना और नेतृत्व पर अन्धेपन का आरोप लगेगा, इसकी शायद किसी ने कल्पना भी न की रही होगी । "जिन स्वदेशी हाथों में सत्ता हस्तान्तरित हुई, उनकी मंशा पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं है । वे लगभग सभी स्वतन्त्रता संग्राम की पहली पंक्ति के योद्धा थे, जो राजनीति में विशिष्ट जीवन-मूल्यों के हिमायती थे । इसके अतिरिक्त महात्मा गांधी के सान्निध्य और सिद्धान्तों की आग में अपने चरित्र के कुन्दन को तपाकर

चमकाया था । इसलिये वे किसी क्षुद्र स्वार्थ से परिचालित थे, ऐसा सोचना दुराग्रह होगा । किन्तु उनका सत्तापिपासु मन उघड़ने लगा था और सत्ता हाथ से खिसकने न पाये, उसके लिए ऐसे निर्णय लिये जाने लगे थे जो तात्कालिक रूप से चाहे समाधान लगें किन्तु कालान्तर में वे विष-बीज बनकर घातक साबित हुए । तुष्टिकरण के धीमी गति वाले ज़हर ने कालान्तर में अपना प्रभाव दिखाया और जनता भाषावाद, प्रान्तीयतावाद, भ्रष्टाचार व कुर्सीवाद का शिकार होती चली गई । महादेशीय संरचना और प्रकृति वाले देश में आदर्श जनतंत्र स्थापित करने का साहस तो दिखाया गया किन्तु १९५९ में केरल की चुनी हुई सरकार को असंवैधानिक तरीके से गिराकर प्रजातान्त्रिक महल की एक ईंट खिसका दी गई, और फिर ईंट-दर-ईंट का खिसकना रुका नहीं । प्रजातन्त्र, जो लिखित मर्यादाओं की अपेक्षा अलिखित संस्कारों पर अधिक कायम होता है, नित नये विधानों के रचे जाने का मुखापेक्षी होता गया। आदर्शसंहिताओं की उच्चतम स्थितियों के निर्माता व्यवहार में उसके शब्द-दर-शब्द की हत्या करते चले गये । आदर्शों, आकांक्षाओं, सपनों, भावनाओं का शोषण और हत्या हुई ।''[३९] आजादी के बीते दशकों की उपलब्धियों पर विचार करते समय हमारी दृष्टि सर्वांगमुखी होनी चाहिए । हमारी राष्ट्रीय बुनियादी समस्याओं के जितने मुंह, जितने वैविध्य और जितने पहलू हैं, उनकी तुलना उस परिस्थिति के सादृश्य किसी अन्य राष्ट्र के साथ मिलाकर नहीं की जा सकती । रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, रीति-रिवाज, भाषा, धर्म, जाति, प्रान्त, भौतिक भिन्नताओं एवम् मान्यताओं की विविधता के कारण राष्ट्रीय जीवन की प्रगति के रास्ते वैसे भी प्रशस्त न थे, तिस पर अशिक्षा, अज्ञानता, गरीबी और रूढ़ियों ने कोढ़ में खुजली का काम किया ।

इतिहास गवाह है कि, ईमानदार और जनआन्दोलनों से जुड़े हुए सार्थक साहित्य हस्ताक्षरों ने व्यवस्था से कभी समझौता नहीं किया । मध्यकालीन राजदरबारी कवियों का वजूद राजाओं और सामन्तों की जी-हजूरी में बीता होगा किन्तु जनवाद का प्रतिनिधि कवि कभी भी इन किले की प्राचीरों में बन्द होकर नहीं रहा । मध्यकाल में इसके प्रखर स्वर कबीरपन्थी साधुओं में देखे जा सकते हैं जिन्होने समाज के जर्जर नियमों और कुरीतियों को खुलेआम चुनौतियां दी थीं । धर्म-सम्प्रदाय के पाखण्डी ठेकेदारों को सड़क पर खड़े होकर ललकारा था । राजदरबारी आश्रयों के वैभवी प्रलोभनों को त्यागकर उन्होने कहा -

'संतन कौं कहा सीकरी सौ काम
आबत जात पन्हैयां टूटीं, बिसरि गयौ हरिनाम ।
जाकौं मुख देखैं दुख उपजत, ताकौं करनी पड़ै सलाम ॥'
- कुम्भनदास जी

या फिर -

'कबिरा खड़ा बाजार में, लियैं लकुटिया हाथ,
जो घर फूंकै आपना, चलैं हमारे साथ ।'
- कबीरदास जी

गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा था -

'हम चाकर रघुनाथ के...'

कहने को तो बिहारी ने भी कहा था -

'नहिं पराग नहिं मधुर मधु
नहिं विकास इहिं काल
अली कली ही सौं विन्ध्यों
आगे कौन हवाल ।'

किन्तु बिहारी राजाश्रयी कवि थे । कबीर पन्थी कवियों ने इस सन्दर्भ में समाज की रूढ़ परम्पराओं को ध्वंसते हुए बड़ा ही दुःसाहसी अभियोजना प्रारम्भ किया था ।

आधुनिक काल में बदलाव का यह तेवर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से स्पष्ट प्रतीत होता है जब उन्होंने 'अन्धेर नगरी' लिखकर तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्य की अनीतियों, अन्यायों को लांछित किया था । उनके ही शब्दों में -

'सेवक गुनीजन के, चाकर चतुर के हैं
कविन के मीत हितचित गुन गानी के ।
चाहिबे की चाह, न काहू की परवाह, न ही
नेह के दिवाने सदा सूरत निभानी के ।
सीधने सौ सीधे, महाबाँके हम बाँकेन सौं,
हरिश्चन्द्र नगद दमाद अभिमानी के ।
सरबस रसिक के, सुदास दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राजधानी के ।'

लोकवाद से जुड़े हुए जुझारू योद्धा की तरह नवगीत का शस्त्र लेकर सामने आनेवाले प्रथम योद्धा निराला थे जिन्होंने पूँजीवादी - सामन्तवादी व्यवस्था का डटकर विरोध किया और सर्वहारा वर्ग की हिमायत में एक क्रान्ति को अग्रसर भी किया -

"दलित जन पर करो करुणा
दीनता पर उतर आये
प्रभु, तुम्हारी शक्ति अरुणा
हरे तन-मन प्रीति पावन
मधुर हो मुख मनोभावन
सहज चितवन पर तरंगित
हो तुम्हारी किरण तरुणा ।"[४०]

नवगीत में व्यवस्था के प्रति आक्रोश प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूपों में व्यक्त हुआ है । गीतकार कहीं सीधा प्रशासक वर्ग से जुड़कर उसकी विकृतियों व स्वार्थी लालसाओं को उद्घाटित करता है, तो कभी प्रकारान्तर से राज्य-व्यवस्था के षड्यन्त्रों का पर्दाफाश कर देता है । गीतकार विजय किशोर

लिखते हैं -

"दरवाजे अपने हैं, ताले ग़ैरों के
आंगन में हिस्से हैं, नत्थू-खैरों के ।
अपने खेत, फसल अपनी
खलिहान दूसरों के,
माथे पर उपजाऊ लिखना
पड़े ऊसरों के ;
नंगी पीठों पर अरसे से बने हुए
मिटते नहीं निशान बड़ों के पैरों के ।"[४१]

डॉ. सुरेश भी व्यंग्य करते हुए कहते हैं -

"कन्धे कुली
बोझ शहज़ादे
कोई फ़र्क नहीं,
राजे कभी
कभी-महाराजे
कोई फ़र्क नहीं ।
टुकड़े-टुकड़े नाते-रिश्ते
धज्जी-धज्जी प्यार,
हुई ज़िन्दगी बनिये के
खाते की रक़म उधार,
मौत भेजती
रोज तक़ादे
कोई फ़र्क नहीं ।...
पीछे चलकर आगे पहुंचे
जाने कितने लोग,
हमें हजूरी रास न आयी
लगा कलम का रोग,
बदनामी के
चढ़े लबादे
कोई फ़र्क नहीं ।"[४२]

राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में जब व्यवस्था के षड्यन्त्रों का पर्दाफाश करता हुआ नवगीतकार अपनी अपेक्षाकृत अधिक उत्तेजक भूमिका में सामने आता है तो वहां पर बड़े ही सार्थक प्रतीकों के माध्यम से अत्यधिक तीक्ष्ण व्यंग्यों का सृजन करता है -

"प्रत्यंचित भौहों के आगे
समझौते केवल समझौते
भीतर चुभन सुई की
बाहर सान्ध्यपत्र पढ़ती मुस्कानें
जिसपर मेरे हस्ताक्षर हैं
मेरी है, ईश्वर ही जाने
आंधी से आतंकित चेहरे
गर्दखोर रंगीन मुखौटे ।"[४३]

डॉ. विष्णु विराट लिखते हैं -

'एक राजा हाथ में तलवार लेकर
घूमता है वन-विजन में हड़बड़ाता
स्वयं की परछाइयों से खौफ़ खाता"[४४]

मुकुट बिहारी 'सरोज' ने अपने नवगीतों में भारतीय राजनीतिक छद्म को वैविध्यपूर्वक पकड़ा है और साफ-साफ कहा है कि गन्तव्य न पाने के पीछे कोई न कोई कारण तो है -

"चांद आया चाँदनी आई नहीं
बात कुछ भी हो, मगर भाई नहीं...
देख कर पानी हिमालय तक चढ़ा
हर युवक अरमान-शूली पर चढ़ा
बाँध बलि के खून का बँध तो गया
पर नयी तस्वीर मुस्काई नहीं ।"[४५]

नवगीत-कवि राष्ट्रीय राजनीति के कार्य-व्यवहार की सूक्ष्म छानबीन में सहज दिलचस्पी रखते हैं, क्योंकि उनके मनः संसार में उस राजनीतिक आचरण के वे संस्कार हैं जो सच्चे अर्थों में समाजवादी, सामूहिक मुक्ति और न्याययुक्त समाज की रचना कर सकें । किन्तु रचनाकारों का अनुभव है कि शीर्ष राजनेता भी सत्य और अन्याय के हिमायती हैं । नवगीतकार सच्चिदानन्द सिंह 'समीर' कहते हैं -

"किन-किन के चेहरे पहचानूँ
सब लगते हैं सीधे-साधे ।
तन पर ओढ़े लाल लबादे ।
    किन-किन की आंखों में देखूँ
    सबकी आंखों में हैं प्यादे,
    कन्धों पर बन्दूकें लादे !
किन-किन की आवाजें बाँचूँ
सबकी आवाजों में वादे

सभी झूठ की पगड़ी बाँधे ।
किन-किन की पूजा में बैठूँ
सबके लगते कोढ़ इरादे
बाहर कम पर भीतर ज्यादे ॥''[४६]

भारतीय राजनीतिक अधोगति की व्यथा-कथा के पीछे सबसे बड़ा कारण राजनीतिज्ञों द्वारा सत्य का पल्लू छोड़ देना है । सत्य-निष्ठा अन्य किसी प्रणाली या सार्वजनिक जीवन को ऊंचा उठाने का प्रयत्न कुतर्क द्वारा चाहे न माना जाय किन्तु लोकतन्त्रीय प्रणाली में तो सत्य की उपेक्षा जनगण सहित करना आत्मघात करना है । सत्य आग्रह से वंचित व्यक्तिजन और सत्ता के मध्य रचनात्मक सेतु बन ही नहीं सकता । उसकी विश्वसनीयता तो घटती ही है, साथ-ही वह जनता के मन में अनास्था, सन्देह और दुराव के बीज भी बोता है । गीतकार नईम लिखते हैं -

''समय नहीं है जीने लायक
ये कहते हैं
वो कहते हैं
मौसम ये अनुकूल नहीं है ।
लेत-लेते, आज पड़ गयी रिश्वत देना
भ्रष्ट पुलिस ही नहीं, दिख रही उनको सेना
छोटे-बड़े सभी नालायक
- ये कहते हैं
- वो कहते हैं
सब नकली हैं, मूल नहीं हैं ।
मौका महल देखकर करने को कहते हैं
व्यथित क्रौंच-सा वो दुख सहने को कहते हैं
कोई नहीं है असली साधक
- ये कहते हैं
- वो कहते हैं
उनकी कोई भूल नहीं है ।''[४७]

लोकतन्त्र में नेता का प्रेरक आचरण स्यमेव एक आचार-संहिता है । किन्तु जब वह इस आचार-संहिता को खुद-ब-खुद त्याग देता है और निजी स्वार्थ के लिए गलतियों पर गलतियां करता जाता है तो जन सामान्य की नज़रों से वह गिर तो जाता है, पर नयी तरतीबों और लुभावने भाषणों से वह अपने उद्देश्यों को पुनः प्राप्त कर लेता है, और फिर वही होता है जो पहले से होता आया है । नवगीतकारों ने इन सभी पहलुओं पर सूक्ष्मता से दृष्टिपात किया है । ऊपर से लेकर नीचे तक सम्पूर्ण व्यवस्था जर्जर हो चुकी है, चाहे वह लोकसभा का सदस्य हो अथवा राज्यसभा का, विधायक हो या ग्राम-प्रधान, सभी की यह नियति बन चुकी है । नवगीत कवि, सुरेन्द्र काले की एक अभिव्यक्ति देखें -

"राहों पर राह बिछी
कोस ये कड़े
साफ सड़क शीशा क्यूँ
पाँव में गड़े...
एक नाव नदी और
एक नदी नाव
फिर प्रधान जीत गये
डूब गया गाँव
पिछवारे पोखर में
जाल फिर पड़े ।"[४८]

राजनीतिक दुर्व्यवस्था और उसके दुष्परिणामों का शिकार आम आदमी ही तो बना है । ग्रामीण जनता तो आरम्भ से ही इस त्रासदी से संत्रस्त है । गुलाब सिंह कहते हैं -

"बदल गया ढब सारा,
परिचय पहचान का ।
तन बदला, मन बदला, गांव-घर-सिवान का ।
मुखिया थे, 'मुख-से',
सरपंच हुए पेट-से ।
बातों की एवज
संबन्ध जुड़े टेंट से ।
नहर गाँव-भर की है, पानी परधान का ।"[४९]

राजनेताओं में कथनी और करनी में घोर विरोध और झूठ से लगाव की प्रवृत्ति को नवगीतकार ने क्षोभयुक्त स्वरों में कहा -

"छोड़ दी स्वयं हमने सूरज की उंगलियां
आयातित अंधकार के पीछे - दौड़कर
देकर अन्तिम प्रणाम धरती की गोद को
हम जिया किये केवल खाली आकाश पर
ठण्डे सैलाब में वही बसन्त पीढ़ियाँ
पाँव कहीं टिके नहीं
इतने हल्के हुए ।"[५०]

राजनीतिक जीवन में त्याग की जगह संग्रह, संयम के बदले भोग, दृढ़ता की जगह तुष्टिपरक लचीलापन, कर्मनिष्ठा की जगह भोगविलास, सार्वजनिक न्याय के स्थान पर पक्षपातपूर्ण भाई भतीजावाद, जनतंत्र बनाम वंशवाद, सामंजस्य की जगह विरोध-वृत्ति व असहिष्णुता तथा सादगी की जगह तामझाम, ऊपरी दिखावट,

हवाई खयालों और विदेशी प्रवृत्ति के मोह के लक्ष्य प्रतिष्ठित हो गये -

"मंच गुलदस्ते, पड़कती रोशनी
रंगीन झालर, गर्मजोशी -
कुछ नहीं माकूल है इस व्यवस्था में
खुदकुशी या सरफ़रोशी
बेतरह बढ़ने लगी जब
खामख्याली
कील देने को हथौड़ी तब उठा ली।"[५१]

सच्चिदानंद सिंह 'समीर' लिखते हैं -

"जितने मुखौटे हैं,
उतने सरौते हैं,
किनको स्वीकार करूँ
किनको इनकार करूँ
मेरे भी जीने की दुहरी व्यवस्था है।
आयातित रेशम से
देश बँध जाते हैं
शब्दों की सूली पर
भाव चढ़ जाते हैं
किनका निर्यात करूँ
किनका आयात करूँ
मेरे भी बँटने की पूरी अवस्था है।"[५२]

नवगीत में राजनीतिक विद्रूपताओं को कहीं सीधे-सादे कथ्यों में, और कहीं व्यंग्यपूर्ण तीक्ष्ण भाषा में चित्रांकित किया गया है। नवगीतकार स्वयं भी इन राजनीतिक विषंगतियों का सामना करता है और अपने अनुभव को इस तरह अभिव्यक्ति देता है, जैसे वह दर्द और अनुभव उसका अपना न होकर जन साधारण का हो। नवगीतकार दिनेश सिंह का यह बयान देखें -

"भैंगी आंखें, ढुलमुल नजरें,
हर चितवन पर 'वाह-वाह' को
क्या कह दूँ ऐसी निगाह को।...
कोर्ट-कचहरी टँगे मुकदमें।
हत्या-लूट-जिना की हद में।
एक गवाही फाँस बन गई
सही फैसले के मकसद में।
नौ-नौ हाथ तमंचे उछलें

टेंटे गठियाये गवाह को
क्या कह दूँ ऐसी निगाह को ।''[५३]

नतोओं की कथनी और करनी पर अत्यन्त तीक्ष्ण व्यंग्य करते हुए राम सेंगर लिखते हैं -

''तंत्रबुद्धि का हेकड़ जल्वा
भावुकता के स्वांग
खोज रहे मरुथल में झरना
सब औरांगउटांग
बाहर उजले भीतर काले
भव्य लगें दहिजार ओढ़कर
जनहित के नाम के दुशाले ।
दृष्टि-भाव जैसे मण्डी की चीज हुए हों
मूत रहे हैं कुत्ते सारे
उठा-उठाकर टाँग ।
मसले वही पुराने, बासी
हित-अनहित सब अपने-अपने
अपनी-अपनी मथुरा-काशी ।
सीधी चाल सांप की है या है अजगर की
बहुपार्श्वों से देख रहा
आलोचन ऊटपटांग ।''[५४]

यशमालवीय राजनेताओं पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं -

''सोने के सिंहासन बैठे
कुटिया के ऊपर धुनताने,
नोन तेल लकड़ी की कीमत
राजमहल वाले क्या जानें ।...
अनुदानों की सौगातें ले
अश्रु पोंछने को निकले जो,
सबकी नज़र बचाकर अपनी
जेबें लगे स्वयं भरने वो,
बोल दूर के बड़े सुहाने
पास हुए तो लगे चिढ़ाने ।''[५५]

नवगीतकार रमेश रंजक लिखते हैं -

''है तो राजनीति की पुस्तक

लेकिन कूटनीति में जड़ है
हर अध्याय लिखा है आधा
आधे में आधी गड़बड़ है
आधे में कानून निराले
ये लम्बे नाखूनों वाले
देशी होंठों से करते हैं
बातें सदा विदेश की ।"[५६]

कुमार रवीन्द्र व्यवस्था और सभ्यता को झेलते हुए आम आदमी की विवशता का पर्दाफाश करते हुए कहते हैं -

"सभ्यता के घाट पर
उल्टी पड़ी है
रोशनी की नाव ।
लौट आये हैं सड़क पर
थके-हारे पाँव ।
चेहरों के काफ़िले
सदियों पुराने
खो गयी जिनकी सही पहचान
घिसे सिक्कों को लिए
सब चाहते हैं
सांस का सारा नया सामान ।
एक अनजाने सफ़र में रोज़
हो रहे शामिल
उजड़ते गाँव ।"[५७]

शासित और शासक के बीच बिगड़ते सम्बन्ध, बढ़ते अन्तराल, जैसे एक खौफ़ का वातावरण खड़ा कर देते हैं । आम आदमी भयातुर अवस्था में सहमा हुआ खड़ा है और व्यवस्था की आखेटी निगाहें उसे ढूँढ रही है -

"नदी के किनारों पर भेड़िये
हिरनों के झुण्ड कहां जायें ।
पेड़ पर मचान की व्यवस्था है
वाण का निशान बने ये हिरन
जारी सरकारी फ़रमान हुआ
शाही पकवान बने ये हिरन
हिरनखोर राजा से क्या कहें
किसको कहें किसको समझायें ।"[५८]

राजनीतिक व्यवस्था की दूरभिसन्धियों को, भ्रष्टाचारिता, अनैतिकता और अन्याय को, स्वार्थपरकता को तथा आम आदमी के प्रति व्याप्त बेईमानी को नवगीतों में एक विशाल पटल पर दृश्यांकित किया गया है । नवगीतकार ने गांव और शहर की विभाजक रेखा तय कर ली है । जहां दुखी और पीड़ित व्यक्ति अनेक वर्गों में बँटा हुआ है । जहाँ सामाजिक वर्जनाओं के शिकार लोग स्वार्थी राजनीतिक दुष्चक्रों के तले भी खटते-पिसते रहते हैं । जहाँ गाँव की अपर्याप्त सुविधाएं नयी पीढ़ी को नगरों की ओर धकेलती रहती हैं और शहर में स्थापित व्यवस्था का स्वार्थी तन्त्र जैसे उसे धीरे-धीरे समाप्त करने लगता है, राजनीतिक अधिनायकवाद में समाज के लिए जैसे कुछ सोच है ही नहीं । गुंडागिरी, लूट-खसोट, दंगा, हत्या, बलात्कार, दमन, शोषण, संत्रास जैसे शब्दों का कोई विकल्प ही नहीं रह गया। आदमी पेट से पेट की भूख तक ज़िन्दा रहकर बरगलाता है । वह पेट से उठकर ज़ुबान के हथियारों का इस्तेमाल कर अपनी बात तक कहने के लिए साहस नहीं जुटा पाता -

'खांसना मत
मौन टूटेगा हवेली का'

साधारण आदमी को जैसे अपनी तकलीफें व्यक्त करने का अधिकार भी नहीं है । इन सभी तथ्यात्मक कथ्यों को यदि रेखांकित करें तो नवगीत हिन्दी की एक विधा ही न रहकर एक सक्रिय आन्दोलन भी बन जाता है, जो वैचारिक स्तर पर क्रान्ति की नयी भूमिका का सृजन करता है ।

राजनीतिक उठा-पटक के परिणामस्वरूप ज़िन्दगी के बिखराव और टूटते मूल्यों के तहत गीतकार जब आत्मसंकुचन का अनुभव करता है, तब उसकी पीड़ा इस प्रकार व्यक्त होती है -

''देश हैं हम
महज राजधानी नहीं
हम नगर थे कभी
खण्डर हो गये
जनपदों में बिखर
गाँव-घर हो गये
हम जमीं पर लिखे आसमाँ के तले
एक इतिहास जीवित कहानी नहीं ।''[५९]

व्यवस्था के प्रति व्यक्ति के प्रमाद को नवगीतकार नंगा करता है और सामयिक परिवेश और परिस्थितियों में आम आदमी की लड़ाई को आगे बढ़ाने के लिए व्यग्र हो उठता है । ऐसी व्यवस्था से निर्णायक लड़ाई होनी ही चाहिए -

''आज हम हड़ताल पर हैं
हड्डियों से जो चिपक रह गयी
उस खाल पर हैं
यह खबर सबको सुना दो

इश्तहारों में लगा दो
हम लड़ाई पर खड़े हैं
ठोस मुद्दों पर अड़े हैं
तुल गये हैं जेल भरने के लिए
इस हाल पर हैं ।''[६०]

स्वराज्य मिलने के पश्चात राष्ट्र में हुए राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों को समझने के लिए बौद्धिकता सचेत हुई । ठीक है, कि ये परिवर्तन वांछित अर्थों में आशानुरूप परिवर्तन था। घोषणाओं और कार्यान्वयन तक में ऐक्य न था । किन्तु इस छद्म को समझने के लिए भी मात्र भावात्मक प्रयत्न पर्याप्त न था । नवगीतकारों ने अनुभव किया कि श्रम का शोषण साम्राज्यकामी सत्ता ही नहीं, वरन् अपने लोगों की सत्ता भी करती है, यदि वह पूँजीवाद के साये में गिरफ्त है । नवगीतकार कहता है -

''देश की छाती दरकते देखता हूँ
थान खद्दर में लपेटे स्वार्थियों को
पेट पूजा की कमाई में जुता मैं देखता हूँ
सत्य के जारज सुतों को
लंदनी गौरांग प्रभु की
लीक चलते देखता हूँ ।''[६१]

सरकार चाहे किसी की भी बने, हर आनेवाली सरकार का वही हाल होता है । सुदामा शरद लिखते हैं -

'गाजा-बाजा, धूम-धड़ाका ये जंका-मंका
फिर आने वाले कोई सरकार
मेरी गुइयाँ ।'

उमाशंकर तिवारी लिखते हैं -

''दाँव पर अन्धी सियासत के हुए
गिरवी सभी चौपाल
खून के रिश्ते हुए गुमराह
चलते हैं तुरुप की चाल
तेज नख वाले नये उमराव
पहचाने नहीं जाते ।''[६२]

नवगीत आम आदमी के साथ प्रतिबद्ध है । वह राजनीतिक बदलाव और उसकी विद्रूपता को समग्र रूप से उल्लिखित करता है । घटना-विशेष से जुड़कर गीत क्षणिक और अल्पजीवी के खतरे से संलग्न हो जाता है । घटना-विशेष के समाप्त हो जाने पर मात्र उसी सन्दर्भ से जुड़ा हुआ गीत जैसे अतीत की गाथा बन जाता है और उसका साहित्य - ओज एक तरह से समाप्त हो जाता है । आपातकाल

और इन्दिरागांधी की सरकार द्वारा लादे गये प्रकोप को सतही स्तर पर बयान करनेवाले गीत समय के साथ नष्ट होते गये । इसी कारण नवगीत की सोच एक विस्तृत फलक पर उभर कर वक्त के हालात को शिलालेखों पर उत्कीर्ण करती प्रतीत होती है । आधुनिक परिवेश को विद्रूप करने वाली कुचक्री हस्तियों को नवगीतकार चुनौती देता है और व्यंग्यपूर्ण शब्दों में कहता है -

''मोटी खाल, सलाखें छोटी डर फिर काहे का;
कुर्सी चढ़ा दहाड़े भरता टट्टू भाड़े का ।
गधा-पचीसी सुना रहा है ऊँची तानों में,
गूँगों का दरबार लगाये घर दालानों में,
चौखट पर स्वर रहा सुनायी फटे नगाड़े का ।
कलाबाजियाँ खाने में वह पक्का माहिर है,
पास देखकर पूंछ हिलाने में जग जाहिर है,
मौसम चाहे गरमी का हो या फिर जाड़े का ।
मीठे बोल अधर पर अन्दर तीखा ज़हर भरे,
देख-देखकर लंगड़ी चालें सारा शहर डरे,
उल्टा-सीधा पढ़ा रहा है पाठ पहाड़े का ।''[६३]

आम आदमी टूटने का क्रन्दन और व्यवस्था से उत्पन्न आक्रोश में, चरमराते हुए सम्पूर्ण तन्त्र को नवगीतकार ने अत्यधिक तीक्ष्ण अभिव्यक्ति दी है । व्यवस्था के प्रमाद और उसकी अकर्मण्यता पर व्यंग्य करता हुआ वह कहता है -

''सो रहा यह राष्ट्र प्रहरी
नींद इसकी है बहुत गहरी
ये नशा करता बहुत जहरी
भूलकर भी यहाँ मत आना
बद्मिजाजी में मर जलकर
कहर ढायेगा
सिपाही सो रहा है ।
ये सियासत का नया थाना
चीखना, रोना न चिल्लाना
जाग जायेगा
सिपाही सो रहा है ।''[६४]

समूचे शासनतन्त्र और उसकी व्यवस्था के प्रति नवगीतकार जो प्रतिक्रिया और क्षोभ व्यक्त करता है, वह मात्र उस कवि का ही नहीं, अपितु जन साधारण की अभिव्यक्ति बन जाता है । इस व्यवस्था ने शहर ही नहीं, गाँव और देहातों में भी पूरी तन्मयता से कहर बरपाया है । नवगीत में उपर्युक्त

सभी पहलुओं की चर्चा हुई है और व्यवस्था को समुचित ढंग से लताड़ा गया है । यहां तक कि ग्राम्-प्रधान भी उसी व्यवस्था का हिमायती हो जाता है और सामान्य जनता से पृथक उसकी छवि दिखाई देने लगती है । वह आम-आदमी से अलग हो जाता है और जन साधारण की आंखों में खटकने लगता है -

"मुखिया की मुखबिरी
रपट है थाने पर,
सबकी आंख लगी
सबसे कुछ पाने पर,
मुहर रजिस्टर
फर्जी कारगुजारी के ।
गिरदावल की मर्जी
अपनी अर्जी है,
इन्तखाब पर सौ,
पचास पर पर्ची है,
खेती अपनी है
नक़्शे पटवारी के ।
चकबन्दी की चख-चख
सहन ओसारे में,
बात-बात के
मुद्दे हैं बंटवारे में
बात-बात में है
रंग पट्टीदारी के ।"[६५]

इसी तरह नवगीतकार अखिलेश कुमारसिंह ने व्यवस्था के शिकार सामान्य जनता की प्रतिक्रिया और बौखलाहट का बखूबी चित्रांकन किया है । व्यवस्था से टूटे आम आदमी की स्थिति का बयान करते हुए वह लिखते हैं -

"मुखिया के टपरे हरियाये
बनवारी के घाव,
सावन की झींसी में गुमसुम
भीग रहा है गाँव ।
धन्नो के टोले का तो
हर छप्पर चलनी है,
सबकी सब रातें अब तो
आंखों में कटनी हैं
चुवने घर में कहीं नहीं

खटिया भर सूजा ठांव ।
निंदियारी आँखें लेकर
खेतों में जाना है,
रोपाई करते-करते भी
कजली गाना है,
कीचड़ में ही चलते-चलते
सड़ जाएँगे पाँव ।"[६६]

नवगीतकार, नेताओं, पूंजीपतियों तथा सामन्त वर्ग के शोषण, दमन और संत्रास से अच्छी तरह वाकिफ़ है । ऊपर से साफ-सुथरे दिखने वाले अन्दर से कितने काले होते हैं, इसका अन्दाजा नईम की इन गीत-पंक्तियों से भी लगाया जा सकता है -

"उनकी झक उजली चादर से
अपनी ज्यादा ही मैली है ।
जिनके लिए आपके मन में
जगह नहीं है -
सुई बराबर
अस्तित्वों को
जो नकारते रहे-
सरासर ।
आभिजात्य जीवन जीने की
उनकी अपनी ही शैली है ।
धूल-धूसरित औना-पौना
मुझे समूचा मुल्क लगे है
ठगते हुए गैर को ठगुआ
स्वतः ठगे हैं ।
राजभवन में वे बैठे पर
निकल गयी अपनी रैली है ।
ढाँक रखा है ज्यादातर ने
स्याह दिलों को श्वेत झगे से,
नहीं रही उम्मीद तनिक भी
गैरों से तो ठीक सगे-से ।
कर्ता हैं हम, किन्तु आपकी
किर्ति दिगन्तों में फैली है ।"[६७]

साम्प्रदायिक विद्वेष भी निहित स्वार्थी राजनीतिक दाव-पेंच का ही परिणाम होता है जिसमें साधारण जनता ही पिसी जाती है । कथित राजनेता या महात्वाकांक्षी व्यक्ति के अपने निजी स्वार्थ के कारण सैकड़ों-

हजारों लोग साम्प्रदायिक दंगों के शिकार हो जाते हैं । इस वास्तविकता को भी नवगीत-काव्य में उभारा गया है । नवगती-कवि नईम भी इस तल्खी से पीड़ित हैं -

"प्यार से मिलते हुए दिल ईद से उत्सव कभी
आज बल्लम बर्छियों से भेंटते मुझको सभी ।"[६८]

समय की इस त्रासदी से उत्पन्न अंधेरे से भयभीत होकर कवि कहता है -

"घुट रहा है दम विषैले छाँव में
धुआँ फैला है समूचे गाँव में
सरहदों पर जम रही परछाइयाँ
मैं अंधेरे से बहुत भयभीत हूँ
मैं समय की त्रासदी का गीत हूँ ।"[६९]

इस तरह स्वातंत्र्योत्तर भारत में जो छल, छद्म, शोषण, उत्पीड़न, अन्याय व स्वार्थ की स्थिति पैदा हुई, नवगीतकार ने एक ओर उनको अपने गीतों में पूर्णतः प्रतिबिम्बित किया, दूसरी ओर इनके परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाली स्थिति के प्रति गम्भीर प्रतिक्रिया व्यक्त की है । इस प्रतिक्रिया के दो रूप हैं - एक है, उस असहाय, विवश, करुण स्थिति का चित्रण तथा दूसरा, आक्रोश और चोट करने की प्रवृत्ति का चित्रण ।

नवगीत-काव्य में 'राजनीतिक विद्रूपताओं का यथातथ्य अंकन' और इस व्यवस्था में शोषण के शिकार जन-साधारण की दास्तान का बयान मात्र नहीं है, वरन् इसके परिवर्तन के लिए परिवर्तनशील रहने की रचनात्मक शिक्षा व संकेत भी ध्वनित हैं । "व्यवस्था की यथास्थिति को तोड़ना और उसको उसके स्वयं रचे जाल से निकालकर गतिशील प्रक्रिया में डालना इतना आसान नहीं है । क्योंकि शोषण की कारगुजारियों का माध्यम् बन गई यह राजनीति इतनी मायावी और तिलस्मों को जन्म देने वाली है कि, इस पर प्रहार कैसे और किस कोण से होंगे, यह समझना मुश्किल है । और तो और, वे कथित प्रतिबद्ध साहित्यकार जो प्रगतिशील समाज की रचना का दावा करते हैं, इस राजनीति के अन्तर्विरोधों को या तो पहचान नहीं सके या फिर जानबूझ कर यथास्थितिवाद के पोषक बने ।"[७०] नवगीत की प्रतिबद्धता जनता के साथ है । कविता को जनता के हृदय के साथ जोड़ना उतना आसान नहीं है, ऐसा करने पर वह प्रायः सरलीकृत बयानों का शिकार भी बन जाती है, किन्तु नवगीत में लोकमन को समझते हुए लोकप्रचलित मुहावरेदार भाषा में राजनीतिक अन्तर्विरोध को जिस खूबी से उघाड़ा गया है, वह महत्वपूर्ण और विचारणीय है ।

'नवगीतकारों के उद्‌भव के समय देश स्वतंत्र हो चुका था इसलिए उनकी 'राष्ट्रीय चेतना' काल्पनिक और वायवी न होकर समसामयिक है । 'विद्रोही प्रकृति' होने के कारण स्वतंत्र जनता के उत्पीड़न को देखकर उन्होंने शासक वर्ग पर करारा व्यंग्य किया है । शासक वर्ग द्वारा निर्मित इस राजनीतिक - सामाजिक व्यवस्था पर व्यंग्य ही नहीं, उसे परिवर्तित करने की अकुलाहट भी इन गीतों में विद्यमान है । इन गीतकारों में युग-चेतना सम्पूर्ण आवेग के साथ फूटी है ।'[७१] बाल स्वरूप राही की युगीन

छटपटाहट को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है -

''दरपन दो जिससे मैं पर्त्तहीन दिख पाऊँ
साहस दो, जैसा भी देखूँ
मैं वैसा ही लिख पाऊँ ।''[७२]

व्यंग्य :

व्यंजनात्मक कथ्य की श्रेणी में अपने निर्दिष्ट लक्ष्य पर प्रहार करता हुआ 'व्यंग्य' कविता में कवि के काव्य-सामर्थ्य को सामने रखता है । यहां व्यंग्य की शास्त्रीय विवेचना प्रासंगिक नहीं लगती क्योंकि शास्त्रीय ढंग से इस सन्दर्भ में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है ।

व्यंग्य की अनके विशिष्टताओं में उसकी पहली पहचान है - परोक्ष कथन, जिसमें कुछ विशिष्ट अलंकारों, प्रतीक विधानों तथा बिम्बों का साहचर्य ग्रहण किया जाता है । व्यंग्य में वाचक की एक समालोचित दृष्टि भी सामने होती है जो अपने इंगित लक्ष्य को बड़े ही तीक्ष्ण और प्रहारात्मक अन्दाज़ में आलोचित करता है । व्यंग्य का मुख्य मुद्दा तो आलोचना ही है । नवगीत चूँकि आम आदमी के संघर्ष का साक्ष्य होकर जनवाद का पक्षधर रहा है । इसलिए स्वाभाविक ही है कि वह व्यवस्था की असंगतियों को सार्वजनिक रूप से कहे । प्रशासनिक व्यवस्था की दमनकारी नीतियों, व्यक्ति-स्वार्थ का कालुष्य तथा आम आदमी पर लादे गये सामाजिक अन्याय की प्रतिक्रिया में उठे आम आदमी के आक्रोश को व्यक्त करता है यह नवगीत ।

नवगीत में मुख्यतः कथ्य के दो ही अन्दाज़ सामने आते हैं - सपाटबयानी और व्यंग्यात्मक कथ्य । सपाटबयानी में नारेबाजियाँ ज्यादा हैं, किसी हद तक गाली-गलौज भी है । किन्तु व्यंग्य में कथ्य की शिष्टता तकरार रखते हुए निर्दिष्ट विषय को चौराहे पर नंगा कर देने की कोशिश भी होती रही है । व्यवस्था, प्रशासन, राजा, राजकुंवर, कोतवाली, दरोगा, सूबेदार, जमींदार, सरपंच, नेता जैसी संज्ञाओं को लक्ष्य में रखकर नवगीतकार अपने संयमित व निर्धारित सोच को नवगीतों में व्यक्त करता है । वह सपाटबयानी से कुछ हटकर प्रतीकात्मक लहजे में व्यंग्यात्मक तरीके से अपनी बात कहता है । मंत्रियों, नेताओं, सांसदों, विधायकों द्वारा किये जा रहे अनर्गल क्रिया कलापों तथा भ्रष्ट आचरणों को वह जन-सामान्य के सामने खोलता रहा है ।

नवगीत मूलतः संश्लेषणात्मक काव्य है । परन्तु संघर्ष के बीच, विरोध के दौर में उसे खंडनात्मकता का भी आश्रय लेना पड़ा है । खण्डन की महत् शक्ति है - व्यंग्य और व्यंग्य का सशक्त रूप वह है, जिसकी परिणति करुणा में होती है और जो प्रायः अपने पर किया जाता है । नवगीत ने करुणोत्पादक व्यंग के माध्यम से युगीन परिवेश का सही चित्र प्रस्तुत किया है । नयी कविता ने दावा किया था कि व्यंग्य का अस्त्र उसी के पास है और गीत की परिधि बहुत सीमित है । ''नवगीत ने प्रमाणित कर दिया है कि, वह भावोच्छ्वास मात्र नहीं है, उसमें व्यंग्य का पैनापन भी है । परिणामतः नये गीतकार ने 'काशी का पण्डित' बनने की अपेक्षा 'मगहर के संत' की भूमिका स्वीकार की है । नवगीत ने सामाजिक शोषण, राजनैतिक अधिनायकवाद, साहित्यिक दलबन्दी व मुखौटाधारी लेखन को अपने

व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है । आधुनिक जीवन की विसंगतियों, नगरबोध की जटिलताओं, त्रासद एवम् करुण सन्दर्भों ने उसकी जिजीविषा को समाप्त नहीं किया है । परिणामतः उसकी संघर्ष करने की, चोट करने की शक्ति चुकी नहीं है।''[७३]

> ''ठकुर सुहाती
> जुड़ी जमात
> यहां यह मजा
> मुँह देखी यदि न करो बात
> तो मिले सजा ।''[७४]

उमाकान्त मालवीय ने अनेक विसंगतियों पर व्यंग्य किया है । उनके एक नवगीत में प्रयुक्त यह व्यंग्य देखें -

> **''अंधियारे में जुगनू बोये थे कल**
> **सूरज की आज फसल काटने चले ।...**
> **जैसी करनी**
> **वैसी भरनी क्या है**
> **सांस टूटने पर वैतरणी क्या है,**
> **नागफ़नी और बबूल बोये थे कल**
> **सो रहे टिकोरों की छांव के तले ।''[७५]**

वीरेन्द्र मिश्र ने नेता वर्ग की कलापूर्ण शोषण शैलियों के सम्बन्ध में लिखा है कि इज्जत से ज्यादा वजनी थैलियाँ हैं । ये लोग मखमल की तरह शालीन हैं, इनके कालीन दुःख से गन्दे हो जाते हैं। वे मानते हैं कि जीवन एक है पर उसे दो तरह से जियो । गहरे जल के तट पर जो तस्कर सन्ध्याएँ चल रही हैं, तुम भी उनके उत्सव में शामिल हो जाओ । उनके सुप्रसिद्ध नवगीत संग्रह 'अविराम चल मधुवन्ती' के कई गीत इस तथ्य का भी स्पष्ट उद्घाटन करते हैं कि सातवें दशक में आकर हिन्दी-गीत की संवेदना एवम् विद्रूपताओं का व्यंग्यात्मक चित्रांकन इस बात का प्रमाण है कि 'नवगीत' हिन्दी गीत को सीमित संवेदनाओं के वाहक होने के मिथ्या आरोप से मुक्त कर चुका था । इस सन्दर्भ में वीरेन्द्र मिश्र की निम्न नवगीत-पंक्तियाँ उद्धरणीय है -

> **''ऊँचे पद वाले बौने मन**
> **पीते हैं योजना स्वाद से**
> **एक चीख उठती कागज पर**
> **उभरे हुए समाजवाद से**
> **भ्रष्ट मुक्ति के सिंहद्वार पर**
> **भटकी हुई उदासी मेरी ।''[७६]**

अपने अन्य गीत-संग्रह 'झुलसा है छायानट धूप में' के गीतों तक आते-आते मिश्र जी इस यथार्थोन्मुखी

चेतना से पूर्णतः सम्पृक्त हो जाते हैं । इस संग्रह की रचनाओं में सामयिक जीवन की विसंगतियों को और तीव्रता से उभारा गया है । इसी से इन गीतों में व्यंग्य की प्रवृत्ति विशेष रूप से उभरी है । पूंजीवादी व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए निम्न पंक्तियों में कवि अपनी प्रगतिशील चेतना का परिचय देता है -

"रोटी की आयु बड़ी छन्द की अवस्था से
इसीलिए शब्दों का युद्ध है व्यवस्था से
लाभ के अंधेरे में नाच रहे व्यापारी
मृत्यु के महोत्सव में रस की ठेकेदारी
विष से है सराबोर
अमृता सुराही ।"[७७]

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' के संग्रह 'पंखकटी महराबें', में व्यंग्य प्रधान गीतों की संख्या सर्वाधिक है । इनके गीतों में धारदार व्यंग्य की शक्ति दर्शनीय है जिनके लक्ष्य पक्षधर आलोचक, प्रतिभाहीन कवि और राजनीति व समाज के चौधरी बने हैं । कवि का यह व्यंग्य देखें -

"कल्पतरु
समझे जिन्हें हम
वे खजूरी हो गये
व्यर्थ गूँगी प्रतीक्षा ने
एक फल की
आस की
पत्तियाँ सूखी बिछी थीं
राह में मधुमास की
बाँस, काँस, बबूल
वन में
जी-हुजुरी बो गये ।"[७८]

सामयिक सन्दर्भों में मूल्यहीनता एवम् साम्प्रदायिक विद्वेष के परिणाम स्वरूप जिस विषंगत स्थिति को हम चतुर्दिक देखते हैं और व्यवस्था की उसके प्रति कैसी निर्लज्ज तटस्थता दिखायी देती है तथा जिसके कारण जन-सामान्य का जीवन एक दहशत भरी कथा हो गया है, उस पर व्यंग्य करते हुए नवगीतकार लिखता है -

"बाहर से हंसते हैं लोग
अन्दर से रोते हैं लोग,
जाने यह कैसी आबोहवा
जाने ये कैसे हैं लोग ?...
आंखों में बर्फीली झील

होंठों पर बारूदी प्यास,
कानों में जंगल का शोर
बहरा है मन का आकाश ।
प्रश्नों से सिमटे हैं लोग,
साँपों से लिपटे हैं लोग, ...
वंशी है गूंगों के पास
दर्पण है अन्धों से हाथ,
लुट जाये जाने कब कौन
रहबर का रहजन के साथ,
सुनता हूँ ज़िन्दा हैं लोग
पाता हूँ मुर्दा हैं लोग,
जाने ये कैसी है आबोहवा
जाने ये कैसे हैं लोग ?"[७९]

ऐसा ही एक और दृश्य देखें -

"सुबह शाम कसमसा रहे
अपने ही बुने जाल में
फँसे हुए लोग ।...
आगजनी, कत्ल, रहजनी,
खौफ़ से भरी हुई सदी,
तोड़कर सभी कगार को
तेज़ाबी बन रही नदी,
खुद को ही ढूंढ़ रहे हैं
माथे तक अंधियारे में
धंसे हुए लोग ।"[८०]

मूल्यहीनता ने जीवन-क्षेत्र में जिन बीजों को बोया है, उससे उगे विष-वृक्षों से लपटे नागों ने मनुष्य के उल्लास को पूर्णतः डस लिया है । अभाव एवम् दरिद्रता का शिकार सामाजिक जीवन व्यवस्था की शोषक प्रवृत्तियों का आख्यान बनकर आया है । नारायण लाल परमार ने इस स्थिति का यों चित्रण किया है -

"होरी जैसा दिन
धनिया जैसी रात
सच्चाई के पहन मुखौटे
अफवाहें बैठीं
मैला हुआ पेट का नक्शा

पीठ रही ऐंठी
मुंह का सारा स्वाद चुराकर
चहक रही है बात ।"[८१]

व्यक्ति के सामने से दिशाएं लुप्त हो चुकी हैं । भटकन एवम् अस्थिरता जीवन की एक अनिवार्य विडम्बना है । अपने से, अपने घर से उखड़ आज का मध्यमवर्गीय आदमी अभिशप्त-सा घूम रहा है । गीतकार महेन्द्र शंकर के इस गीत में ऐसा ही दृश्य व्यंग्य के तेवर में उभरकर आया है -

"कंधों पर लादे अपना घर
घूम रहा मैं इधर-उधर
सड़कों, गलियों, चौरस्तों पर
भरमाता है मुझे नगर ।"[८२]

नवगीत ने जीवन के हर छद्म को अनावृत किया है और अपने आस-पास की नंगई को व्यंग्य की पैनी नोक से उसने छेदा है । राम सेंगर का यह व्यंग्य देखें -

"मामूली आदमी सही
नहीं फटेहाली पर नाज
    रोज-दारी ड्यूटी
    एक बटन
    चुटकी-भर चून
    कितना मँहगा जीना
    भाव चढ़ा है ऊनादून
छाती पर होरे
है लौदों की हुर्र-हुर्र
चिरई को रौंद रहा बाज ।"[८३]

चोट सहकर व्यक्ति का स्वभाव स्वयमेव व्यंग्यात्मक हो जाता है । आधुनिक जीवन की कटुताओं की अभिव्यक्ति के कारण नवगीत में व्यंग्यात्मकता अधिक मुखर हुई है । युग के यथार्थ की विसंगतियाँ इस व्यंग्य की प्रेरक स्थितियाँ हैं । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि, कुछ कवियों की व्यंग्य-प्रधान रचनाएं सम्प्रेषण के आग्रह से अत्यधिक प्रभावित हैं । ये कवि मुहावरों, प्रतीकों एवम् बिम्बों द्वारा अपने भावों-विचारों की अभिव्यक्ति को तीक्ष्ण करते हैं । गाँवों से लेकर शहर तक के विभिन्न परिदृश्यों को वह पैनी दृष्टि से देखते हैं और अपने विक्षोम को अधिकांशतः व्यंग्य की भाषा में व्यक्त करते हैं । ऐसे ही कटु सत्य को साक्षात् करनेवाले कुछ दृश्य प्रस्तुत हैं -

"रावण ही रह गये आज प्रभु को उपासने
रुई बन्द कर दी देना देशी कपास ने ।
    प्रभु चोरों का भाग्य विधायक
    - ये कहते हैं

- वो कहते हैं
ऐसा कोई रूल नहीं है ।"[८४]

०० ०० ०० ००

"जिन्हें चढ़ाओं पर मिलना था
आज मिले हैं वो उतार पर
मौसम गये गुलाबों वाले
लौटेंगे अब क्या बहार पर,
गये दिनों में बोली जिनकी खुलकर तूर्ता
ख्वाब रेशमी गये, आज आते हैं सूती
वो भी हथकरघे खादी के
मौटे-झौंटे
साख गिरी उनकी जो कल तक
छाये थे पूरे बजार पर ।"[८५]

०० ०० ०० ००

"दुखिया
घर से बाजार चली है
नंगे पाँव जवानी में ।
राहों में खड़े बबूल छेंकते
आग लगे परधानी में ।"[८६]

०० ०० ०० ००

"भीलों ने बांट लिये वन
राजा को खबर तक नहीं ।
पाप-चढ़ा राजा के सिर
दूध की नदी हुई ज़हर,
गांव, नगर धूप की तरह
फैल गयी यह नयी खबर ।
रानी हो गयी बदचलन
राजा को खबर तक नहीं ।
कच्चा मन राजकुंवर का
बेलगाम इस कदर हुआ,
आवारा छोरों के संग
रोज खेलने लगा जुआ ।

हार गया दांव पर बहन ।
राजा को खबर तक नहीं ॥[८७]

०० ०० ०० ०० ०० ००

"कात रहे हम दिन कपास-से
नाच रहे हम
तकली जैसे,
बज उठते हैं
ढपली जैसे;
हँसते हैं पर हैं उदास-से
लिये पुस्तिका
परिवादों की,
ज़िल्द बँधी है
अवसादों की;
कटे हुए हैं आस-पास से ।
मित्रों ने
उपकार किया है,
नागफनी-सा
प्यार दिया है;
सब खाली बोतल-गिलास से ।"[८८]

०० ०० ०० ००

"आप बस्ती में रहेंगे
आदमी बन
छोड़िये बेकार की बातें ॥...
तप रहे हैं कोप खाये ब्रह्मचारी
पोथियों जीर्ण आखर
पढ़ उचरते -
तप करेगा
आपका ये भेड़िया मन
छोड़िये बेकार की बातें ।"[८९]

नवगीत में कहीं आत्म-व्यंग्य के माध्यम से सामयिक जीवन की विसंगतियों को उद्घाटित किया गया है, तो कहीं व्यवस्था को व्यंग्य का लक्ष्य बनाया गया है । कवि को लगता है कि ज़िन्दगी का पहिया घूमकर पुनः एक त्रासदी के पास पहुंच गया है, किन्तु इस व्यंग्य एवम् विद्रूप के बीच कवि जनसाधारण के साथ पूर्णतः सम्पृक्त है । वक्त की मीनार पर वह अपने मानव सहचर का हाथ पकड़े खड़ा है।

स्पष्ट है कि कवि का 'मैं' समग्र सर्जक वर्ग का प्रतिनिधि है । नगर-बोध की तीक्ष्ण अभिव्यक्ति नवगीत की प्रमुख विशेषताओं में से एक है । सहज एवम् निश्छल ग्रामीण जीवन की जो परिणति नगरों में हुई है, वह अत्यन्त करुण एवम् त्रासद है । वह नयी मुखौटाधारी सभ्यता अभिनय-प्रधान जीवन जी रही है । छद्म इस जीवन का स्वाभाविक आचरण बन गया है । इसी के परिणाम स्वरूप ऊपर से हमें बहुत प्यारे लगनेवाले लोग तीखे नाखून रखते हैं । इस विडम्बनापूर्ण स्थिति का व्यंग्य-चित्र डॉ. शम्भुनाथ सिंह ने इस प्रकार खींचा है -

> "चुन दिये गये हैं जो लोग
> नगरों की दीवारों में
> खोज रहे हैं अपने को
> वे ताजा अखबारों में
> भूतों के इन महलों में
> हँस-हँसकर बसते हैं लोग ।
> वे, हम, तुम और ये सभी
> लगते कितने प्यारे लोग !
> पर कितने तीखे नाखून
> रखते हैं ये सारे लोग
> खूनी दाढ़ों में सबको
> हँस-हँसकर ग्रसते हैं लोग ।
> जलते जँगले जैसे देश
> और कब्रगाह से नगर
> पागलखानों-सी बस्ती
> चीरफाड़-घर जैसे घर
> अपने ही बुने जाल में
> हँस-हँस कर फँसते हैं लोग ।"[१०]

सामन्त और पूँजीपति-वर्ग की ऐय्याशी, अनमेल विवाह और बेतहाशा बढ़ती आबादी पर व्यंग्य करते हुए नवगीतकार नईम लिखते हैं -

> "कल तक जो कसे रहे मांसल बाहों से,
> पानी में डूब गये निचली राहों से,
> मेह ही झरे ऐसे
> बूँद क्या विचारे ?
> अमरबेल से बूढ़े रूखों की शादी,
> बस्ती को निगल गयी बढ़ती आबादी ।
> बँधे हुए घाटों पर

बह गये शिकारे ।
बदल गयी पिछली पहचानें, हर चेहरा,
लगा हुआ क्वाँरी मुस्कानों पर पहरा ।
साँप क्या लुटे ऐसे
लुट गये पिटारे ।
धार क्या बही ऐसी
बह गये किनारे ।''[११]

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि नवगीत में व्यंग्य का स्वर केन्द्रस्थ रहा है । व्यंग्य ने नवगीत-कथ्यों को एक प्रभावक भूमिका और एक नवीन अर्थवत्ता प्रदान की है । ''जहाँ तक गीत 'आत्मा का सहज उद्वेलन' या रागात्मकता होता है, वहीं तक वह 'अभिधेय' रहता है, किन्तु जब रागात्मकता का समंजन 'बौद्धिकता' से हो रहता है, वही 'व्यंग्य' जन्म ले, तीखे और पैने कांटे चुभोता हुआ - अपने अस्तित्व का आभास देने लगता है । नवगीतकारों ने समसामयिक विकृतियों, दुर्बलताओं तथा असंगतियों-विसंगतियों पर करारा व्यंग्य किया है ।''[१२] व्यंग्य का स्वर नवगीत को एक प्रभावक भूमिका से जोड़ता हुआ गीतकार के कथ्य को नये और विस्तृत अर्थों से संलग्न करता है ।

प्राकृतिक परिदृश्य :

भारतीय मनोवृत्ति में 'प्रकृति' प्रारम्भ से ही चेतन और परम् तत्व के रूप में आदरणीया मानी जाती रही है । बदलते हुए आयाम और परिवेश से प्रकृति, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद् आदि का अनुभव करने वाले 'मनुष्य' का रूप धारण कर 'मानवीय' सिद्ध हो चुकी है । हिन्दी काव्य-साहित्य में प्रकृति प्रायः दो रूपों में ही अधिक चित्रांकित हुई है - एक तो स्वतन्त्र दृश्य-रूप में तथा दूसरा, मानवीय भावनाओं के आरोपण के रूप में । नवगीत में स्वतन्त्र दृश्यालोकों की अपेक्षा 'प्रकृति' रचनाकार के अनुभवों का माध्यम बनकर अधिक आई है और कवि के अनुभूतिगत क्षणों की साक्षी अथवा सहभोक्ता के रूप में प्रस्तुत हुई है । प्रकृति के स्वतन्त्र दृश्यालोकों का अभाव नवगीत में नहीं है, किन्तु ऐसे चित्रों की अपेक्षा वह विशेषकर मानव-अनुभूति में रच-बस कर, उसके जीवन का अभिन्न अंग बनकर ही आई है । नवगीत में दृश्यांकित प्रकृति केवल मनुष्य के कोमल भावनाओं की उत्प्रेरक अथवा रमणीय दृश्य मात्र नहीं है, अपितु यहाँ वह मानवीय भावनाओं से पूर्णतः सम्पृक्त और अन्तर्ग्रंथित भी है ।

छायावादोत्तर हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से 'नवगीत' का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । परम्पराभंजक नवगीत-काव्य ने न तो प्रकृति का 'उपदेशक' रूप ग्रहण किया और न ही 'दार्शनिक धरातल पर उसका अंकन' ग्राह्य माना । बल्कि उसने तो प्रकृति की 'अंतरंग चेतना' के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है । नवगीत मुख्यतः 'मानव-हृदय' का उद्घाटक होते हुए भी प्राकृतिक-सौन्दर्य से अनासक्त नहीं है । वह 'मानव-हृदय' और 'प्राकृतिक सौन्दर्य' का अद्भुत मिश्रण है । यहाँ 'प्रकृति' व्यक्ति के सुख-दुःख की सहभागिनी बनकर प्रस्तुत हुई है । नवगीत-साहित्य में प्रकृति और मानव के चिरकालिक अन्तर्सम्बन्धों का सहज चित्रण हमारी जातीय मनोवृत्ति का ही अंग है ।

ओमप्रभाकर, कुँअर बेचैन, नईम, सूर्यभानु गुप्त, ठाकुर प्रसाद सिंह, सुरेश श्रीवास्तव, कुमार रवीन्द्र, रामविलास शर्मा, अनूप अशेष, दिनेश सिंह, गुलाब सिंह, केदारनाथ सिंह, सोम ठ़ाकुर, विनोद निगम, सत्यनारायण आदि नवगीत-कवियों ने अपने गीतो में प्रकृति के स्वतंत्र दृश्यालोकं का निरूपण किया है । तथा प्रकृति को अनुभवों के माध्यम के रूप में देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', राम दरश मिश्र, रवीन्द्र भ्रमर, वीरेन्द्र मिश्र, माहेश्वर तिवारी, राजेन्द्र गौतम, शम्भुनाथ सिंह, उमाकान्त मालवीय, उमाशंकर तिवारी, ठाकुर प्रसाद सिंह, यश मालवीय, कुँअर बेचैन, किशन सरोज, विष्णु विराट, अमरनाथ श्रीवास्तव, शलभ श्रीराम, शीलेन्द्र सिंह, कैलाश गौतम, उदयभानु हंस, महेन्द्र नेह, राजकुमारी 'रश्मि', अरविन्द सोरल, जहीर कुरेशी, घनश्याम अस्थाना, महेन्द्र 'नेह' तथा योगेन्द्र दत्त शर्मा ने अपने गीतों में दृश्यांकित किया है ।

मानवीय सम्बन्धों की भाँति प्रकृति भी नवगीतकारों का जीवन-सहचर बनकर रही है । इसी कारण नवगीत में प्रकृति बार-बार भावनाओं या संवेदनाओं में बेतरह उलझी हुई प्रस्तुत होती है । प्रकृति के प्रति कवि की उतनी ही आसक्ति और अनुरक्ति है जितनी माता-पिता, भाई-बहन, दादा, दादी, पुत्र, पुत्री, पति, पत्नी आदि के लिए है । वास्तव में प्रकृति से पृथक मानव-जीवन की कोई सार्थकता नहीं है । इस सन्दर्भ में डॉ. सत्येन्द्र शर्मा कहते हैं - "यह तो सम्भव भी है कि प्रकृति मानव से निरपेक्ष रह ले, किन्तु प्रकृति-निरपेक्ष मानव-जीवन की कल्पना प्रायः असम्भव है । नवगीत-काव्य में प्रकृति और मनुष्य के चिरकालिक अन्तर्सम्बन्धों का सहज चित्रण हमारी जातीय मनोवृत्ति का ही अंग है ।"[१३]

छायावादोत्तर गीत-काव्य में प्रकृति का प्रशस्त और उन्मुक्त आँगन संकुचित अवश्य हुआ किन्तु उसका अस्तित्व बना रहा । तीसरे और चौथे दशक में साहित्य, विशेषकर 'कथा-साहित्य' में आंचलिकता की प्रवृत्ति मुखर हो रही थी । कहानियों और उपन्यासों में न सिर्फ अंचल की 'जीवन चर्या' और 'लोक रंग' के चित्रांकन के प्रमुखता की प्रवृत्ति जोर पकड़ रही थी, वरन् वहाँ के पर्वत, पठार, मैदान, नदी, जंगल आदि अपनी विशिष्ट पहचान के साथ रूपायित हो रहे थे । नवगीतों में विद्यमान आंचलिकता की प्रवृत्ति हमारी आन्तरिक अनुभूतियों को संस्पर्श देती है । नवगीत-साहित्य आंचलिक प्रकृति के यथार्थ दृश्यों को विविध पहलुओं से समेटे हुए है । इस दृष्टि से सर्व श्री ठाकुर प्रसाद सिंह, उमाकान्त मालवीय, अनूप अशेष, नईम, कुँअर बेचैन, ओम प्रभाकर, वीरेन्द्र मिश्र तथा रवीन्द्र भ्रमर की रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं ।

प्रकृति का आंचलिक वैभव मनुष्य की संवेदना को भेदकर उसे स्पन्दित करता है, उसे झकझोरता है । व्यक्ति ज्यों-ज्यों उस सौन्दर्य में डूबता जाता है, त्यों-त्यों प्रकृति सजीव होकर उसके अन्तर्मन व्याप्त होती चली जाती है । सौन्दर्य-सागर में डूब जाने के बाद व्यष्टि-मन आदिम उद्वेग से भर उठता है और गुनगुनाने लगता है -

"सूनी तलैया की ओट में
डुबा दिया चोटने
तीर लगे घायल कुरंग-सा
मन लगा लोटने

जामुन-सी काली इन भौहों की
छाँह में डूबे हम जा रहे
कब से हम गा रहे ।''[१४]

नवगीतकार जिस भौगोलिक प्रक्षेत्र का निवासी है, प्रायः उसी अंचल के प्राकृतिक सौन्दर्य और सम्पदा को अपने गीतों में उसने चित्रांकित किया है । नदियों, पहाड़ों, जंगलों से गुजरता हुआ वह खेतों, फसलों और पशु-पक्षियों के बीच पहुँच जाता है -

''पर्वत-पर्वत सरसों
घाटी-घाटी राई
किसने सरसों बोयी
किसने बोयी राई
मुण्डाओं की सरसों
संथालों की राई ।''[१५]

यहाँ प्रकृति अपने यथार्थ रूप में दिखायी पड़ती है । इस प्रकार हमने पाया है कि रचनाकार जिस प्रकृति-परिवेश में जीवन जीता है, उसके सूक्ष्म दृश्यांकन में ही उसका कौशल है । इन वर्ण्य-दृश्यों में 'प्रकृति' कवि की सहज अनुभूति का अंग बनकर अवतरित हुई है। यहाँ मुण्डाओं और संथालों की संज्ञा-संकेत अंचल विशेष के प्रकृति-वैशिष्ट्य सहित उस जनजाति के जीवन स्तर व पद्धति का संश्लिष्ट चित्र उभारती है ।

नवगीतकार अनूप अशेष ने आंचलिक प्राकृतिक परिदृश्य को अलग ढंग से उद्घाटित किया है। उनका प्रकृति-चित्रण कुछ भिन्न सन्दर्भ लिये हुए है । ग्रामीण जीवन के हर्ष-उल्लास, व्यथा-विषाद्-अभाव आदि का चित्रांकन कवि ने प्रकृति के माध्यम से ही किया है जिसमें आंचलिकता की सम्पूर्ण विशिष्टताएँ अपने सहज रूप में विद्यमान हैं । कवि के प्रकृति चित्रण में एक क्षेत्रीय विस्तार है और आंचलिक गहारई । अभावग्रस्त जीवन की शंकाएँ प्रकृति के माध्यम से कितनी सशक्त अभिव्यक्ति पा गयी हैं, यह इन पंक्तियों में देखा जा सकता है -

''सोन-पाती झड़ गये पीपल
हरापन फिर
आये या न आये
क्या पता कल
बुन रही है
चौखटों पर मकड़ियाँ
जाले
अधमरा
दिन काँपता है
फैंककर भाले

सींचता श्रम
खंडहर के कूप का जल ।"[१६]

या फिर इन नवगीत पंक्तियों को देखें -

"धनिया के तवे की आँच बनूँ मैं
आँच बनूँ, रोटी का साँच बनूँ मैं ।
गंगा माई देदे कुठिला भर गेहूँ
ताल की मछलियों से एक-एक रोहू,
मिट्टी की दोहनी का
खाँच बनूँ मैं ।
खेतों में सन कर यह देह बने लोई
गंध पिये साँसों में बाँहों की बोयी,
एक फसल वाला
दिन पाँच बनूँ मैं ।"[१७]

उमाकांत मालवीय ने आंचलिकता-सापेक्ष प्रकृति-सन्दर्भों के माध्यम से रोमांच की अभिव्यंजना की है। 'वर्षा' प्रणय-प्रसंग को सदा ही मिठास देती है और विरही को मीठा दर्द भी । मालवीय जी ने अपने एक गीत में आंचलिक परिप्रेक्ष्य में वर्षा ऋतु का ऐसा ही चित्रण किया है -

"रिमझिम के पैने-पैने हैं
बान बहुत जहरीले
झेल न पायेंगे दो लोचन कातर गीले-गीले
एक अदद बादल का टुकड़ा ताने दे जायेगा ।"[१८]

गीतकार नईम ने अपने नवगीतों में अपनी कर्मभूमि 'मालवांचल' की प्रकृति का बड़ा मनोहारी दृश्य उकेरा है । उनके नवगीतों में मालवांचल की प्रकृति यहाँ-वहाँ, जब-तब झाँकती दिखायी पड़ती है । यही नहीं, उस प्रकृत्यांचल से गुँथा इतिहास, काव्य तथा काल-खण्ड-विशेष की अनुगूँज भी कवि की रचनाओं में सुनायी पड़ती है । नईम की निम्न काव्य-पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं -

"दामन को मल-मल कर धोया
दाग नहीं छूटे
बड़ी पुण्यभागा है शिप्रा
कालिदास के 'मेघदूत' सा डूबा उतराया
ठहरा मँडराया ।"[१९]

शिवबहादुर सिंह भदौरिया ने भी प्रकृति की आंचलिक सुषमा और परिदृश्य को अति सजीवता से रूपायित किया है -

"जाड़े की रात कटे
चर्चा करे धान के पुआलों-सी
नल के नीचे का यह स्नान
करे याद भरे तालों की ।"[१००]

प्रकृति की आंचलिकता और लोक-संवेदना प्रायः सम्पूर्ण नवगीत में विद्यमान है । इसमें आंचलिकता के पुष्टिकारक तत्व प्रमुखतः आंचलिक शब्दावलियाँ, बोलियाँ, स्थानीय लोकाचार की प्रतिष्ठा व प्रकृति चित्रण हैं । नवगीतकारों की आंचलिक दृष्टि और लोकधर्मी चेतना तत्वतः परस्पर एक-दूसरे से भिन्न प्रकृति के हैं, कदाचिद् इसी कारण प्रत्येक नवगीतकार की अपनी-अपनी पृथक पहचान बनी हुई है। किसी ने ग्राम्यांचलिक जीवन को मुग्धता के साथ देखा है, तो किसी ने लोक-जीवन से संलग्न होकर उसकी अभिव्यक्ति दी है । नवगीत में 'प्रकृति' कवि की चेतना का अनिवार्य अंग बनकर अभिव्यक्ति पाती रही है । क्योंकि नवगीतकार की, प्रकृति से पर्याप्त निकटता रही है, प्रेम और अनुराग रहा है। प्रकृति से अन्तरंगता नवगीत की प्रकृति में है । प्रकृति से लम्बी अवधि तक का साहचर्य ही लोकरंगों के प्रकटीकरण का प्रमुख कारण है । प्रकृति का मनुष्य से सम्बन्ध सहज और स्वाभाविक है । प्रकृति से मनुष्य का साहचर्य मानव-अस्तित्व के लिए अनिवार्य है ।

सुबह तड़के खेतों, खलिहानों और सिवानों की ओर जाते बैलों के गले में लटकी घंटियों के मीठे बोल, हलों के चलने, हलवाहे की चटकारें, बैलगाड़ियों के चलने की आवाज, गाय-भैंस-बछड़ों की आवाज, पंछियों के कलरव, कल-कल करती नहरें, बहते नाले, नहरों-नलकूपों द्वारा सिंचाई, बाग-बगीचों की सघन अमराई, धान, गन्ना, गेहूँ, मकई, बाजरा, चना, मटर, अलसी, सरसों आदि के लहलहाते खेत और स्वच्छ वातावरण आदि के अनगिनत दृश्य नवगीत-काव्य में विद्यमान हैं । निम्न नवगीत-पंक्तियों से इस बात का संकेत पाया जा सकता है कि, प्रकृति के लोकरंगों के सामान्य सीधे-सादे चित्रों के अतिरिक्त व्यक्ति-अनुभूति भी उसमें गुँथी हुई है । प्रकृति-दृश्य भी समय-बोध और युगीन यथार्थ से सम्पृक्त हैं -

"भिनसारे
भिनसारे
फिर गुलाब चटके
कोहरे का मारकीन
वृक्षों ने ओढ़ा
पगडंडी ने रिश्ता
शहरों से जोड़ा
स्वर उठने
लगे मन्द
जातों के टटके ।"[१०१]

यहाँ अर्थाभिव्यक्ति नितांत सहज और सुन्दर बन पड़े हैं । नवगीत की अनेक रचनाएँ ऐसी हैं, जिनमें

लोकरंग के प्रति मुग्धता की सीमा तक आकर्षण है और पाठक को यथार्थ से रसासिक्त कर देने की पर्याप्त क्षमता रखती हैं । यथा -

"भाँचा : फूल
रंग में बोरे
लटके अलसी क्यारी ।
ऊँचा डीह
पिथरहा घूरे
मसुरी दीठ उतारी ।
मन में पाला
लगे अरहरी
सूरज छिपे मदरसों ।"[१०२]

इसी प्रकार शिव बहादुर सिंह 'भदौरिया' की ये नवगीत पंक्तियाँ देखें -

"भूखे रहे धान और पोखर का जल
चलो पिया गुहरायें बादल
लदे कहाँ नींबू या फालसा करौंदे
बये ने बनाये हैं कहाँ घर-घरौंदे
पपीहे ने रचे कहाँ
गीत के महक
ग़ज़ल कहाँ कह पाये ताल के कँवल ।"[१०३]

रवीन्द्र भ्रमर कहते हैं -

"नीले नभ पर झुकते
गाछ खजूर के
फीके पड़ते मेघों के आकाश की
डूब रही है बेला साँझ उदासी-सी
मिटे जा रहे
भाव-चित्र सिन्दूर के ।"[१०४]

अनूप अशेष को बरगद का पेड़ प्रतीकों में बोलता-सा प्रतीत होता है, तो कुमार शिव को नीम का पेड़ बड़ा भा जाता है -

"था बहुत कड़वा मगर था काम का
था वहाँ यशगान इसके नाम का
आ गये दुर्दिन
निहत्थे नीम के

ज़िन्दगी भर धूप में जलता रहा
पड़ गये मुँह पर
चकत्ते नीम के ।''[१०५]

कवि के इस भावुकता भरे यशगान के ध्वन्यार्थ में नीम के गहरे लोकरंग का प्रतीकार्थ विद्यमान है। रवीन्द्र भ्रमर को पतझर में भी बसन्त की लाली नजर आती है -

''पतझर में बसन्त की लाली
किसने देखी ?
मैंने देखी - मैंने देखी !...
यह हेमन्त चला तो जाये,
दुख के पीछे सुख तो आये
जीवन की टहनी पर कोंपल की आभा से
सजी हुई पूजा की थाली
किसने देखी ?
मैंने देखी - मैंने देखी !''[१०६]

आंचलिक शब्द-परिधान भी गीत-काव्य को प्रत्येक स्तर पर एक नया भाव-संसार देता है । दिनेश सिंह के एक नवगीत की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जिनमें प्रकृति के लोक-रंगों के साथ-साथ मानवीय अनुभूति का संश्लिष्ट विधान दिखायी पड़ता है -

''पहिने बाग बहार ताल झाँके बँसवारी
छिन बदरी, छिन धूप, पात आँखों के पीते
चुप ! चुप ! कहे बयार उभार अपनी सब जीते
टूटा गन्ध सितार, कसे फूलों की क्यारी !
कजली गाये मोर, खड़े सिर विरिछ हिलाये
बरगद ताने डोर, हवा में बाँझ झुलाये ।''[१०७]

प्रकृति के चित्रण में जनवादी आस्थाएँ नवगीत में देखी जा सकती हैं, प्रकृति का चित्रांकन यहाँ छायावादी कविता की तरह नितांत वायवी या काल्पनिक नहीं है । नवगीत का सम्पूर्ण नैसर्गिक कथ्य सीधा ज़मीन से जुड़ा है और आम आदमी की दैनंदिनी से सरोकार रखता है । कवि द्वारा प्रस्तुत एक आशान्वित भविष्य का दृश्य देखें जिसमें संवेदना की सहज अभिव्यक्ति की अनुभूति होती है -

''घर आँगने उतर आयेंगे
गौरैय्या की प्यास बुझाने
माँ के मन फुलवारी होगी
लहकी क्यारी-क्यारी होगी ।
धरती से अंबर के नाते

पंछी पूरी तरह निभाते ।
हर उड़ान सीधी रखने को
जो गहरे में गिरह लगाते ।
साँझ ढले वे सब लौटेंगे
चुग्गा चारा चोंच दबाये
कितनी जिम्मेदारी होगी
माँ के मन फुलवारी होगी ।''[१०८]

इस प्रकार नवगीत ने देशी मन के प्रतिबिम्ब को प्रकृति के लोक-रंगों के साथ उस समय प्रकाशित किया जब साहित्य में आयातित संस्कृति एवम संस्कारों की प्रतिच्छायाएँ खड़ी की जा रही थीं ।

नवगीत-काव्य में आंचलिक संश्लिष्ट चित्रों की बहुलता है किन्तु यह संश्लिष्टता युगीन यथार्थ से पृथक नहीं है -

''टूटी हर डोर
चलो भाग चलें
खेतों में नाच रहा
रेतीला भूत
गाँव-गाँव के बरगद
जैसे अवधूत...
जीवन की लढ़िया
जब की में फँसी
भूल गये लोकगीत
खेल औ हँसी
नकली है भोर
चलो भाग चलें ।''[१०९]

या फिर निम्न पंक्तियाँ देखें -

''चौंक गये रस्ते-अनरस्ते
डरते हैं जोड़े सारस के ।
साँझ-सकारे, ताल किनारे
छाया युगल, बिम्ब रतनारे
जितना सुख उतना ही भय के
पीछा करें हरावल दस्ते,
डरते हैं जोड़े सारस के ।...
चुनते सीपी, शंख कि मछली
झुकी गंध-मादन की बदली

ऋतुएँ मगर दीठ बच्चों-सी
खेल-गुलेल भरे हैं बस्ते,
डरते हैं जोड़े सारस के ।''[११०]

नवगीत की प्रमुख विशिष्टताओं में एक यह भी है कि, इसमें मनुष्य के साथ प्रकृति का अन्तर्योग अत्यधिक आत्मीयता और सहजता से हुआ है । नवगीत-कवियों ने प्रकृति-जीवन तथा मानव-जीवन के आपसी संग्रन्थन को काव्य का उपजीव्य माना है -

''काले मेघा पानी दे ।
पानी दे गुड़धानी दे ।
जलती हुई प्यास के पीछे
जल की एक कहानी दे ।''[१११]

नवगीत में 'प्रकृति' मात्र मानव-जीवन के साथ ही नहीं बल्कि राष्ट्र और जाति के वृहत्तर और व्यापक जीवन के साथ एकाकार है । यहाँ प्रकृति के सर्वांग विस्तारको देखते हुए वेदों और उपनिषदों में समादृत प्रकृति की महत्ता का स्मरण स्वाभाविक है । नवगीत में वही प्रकृति मनुष्य के साथ अंतरंग सम्बन्धों को लेकर अस्तित्वमान है -

''यक्ष के सन्देशवाहक
आ गये फिर ।
हो उठे फिर प्राण उन्मन
देख कर श्यामल घटाएँ
फिर उभर आयीं जलद-पट-
पर लिखीं बीती कथाएँ ।
प्रणय के सन्देशवाहक
आ गये फिर ।...
नीर बनकर फिर पिघलने
लग गईं संवेदनाएँ,
तप्त मानस-पृष्ठ पर ज्यों
हो रहीं अंकित ऋचाएँ ।
निलय के अभिशप्त नायक
आ गये फिर ।''[११२]

स्वतन्त्रता के आस-पास जन्मी और पल्लवित हुई पीढ़ी का शैशव, गाँव की जिस सुन्दर और सघन अमराइयों, पीपल, बरगद, नीम की छाँव में आम, इमली, अमरूद, जामुन, बेर, आंवला, पपीता, करौंदा के फलों को चखते हुए बीता है, मात्र दो-तीन दशकों बाद ही उनकी युवावस्था इस हरे-भरे दृश्य-संसार से वंचित होकर नगरों, महानगरों में बनी ईंट-पत्थरों की बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं और लुभावनी दीवारों के बीच घिर कर रह गयी है । थोड़े से ही समय-अन्तराल में प्रकृति के इस विनाश-लीला

से वे स्तब्ध हैं और हताश भी । किन्तु वह बुजुर्ग पीढ़ी जिसका अधिकांश जीवन प्रकृति के उन्मुक्त और पावन गोद में व्यतीत हुआ है, आज की निर्वसना बसुन्धरा को देखकर हतप्रभ है । वह अतीत की स्मृतियों में बार-बार झाँकता है और कुहरे वाली शामों एवम् जंगलों से आच्छादित पर्वतीय अंधियारों के अतीत को स्मरण करते हुए कहता है -

"गाँव के सिवानों में
दूर बियावानों में
कुहरे वाली शामें, पर्वतीय नदियों की -
रेत पर खड़े कब तक
किसको आवाज दें, 'ओ मेरे ध्रुव तारे !'
अब न रहे मन्दिर वे, अब न वे ऋचाएँ
लाख वर्जनाएँ ।"[११३]

मूल्यहीनता ने जीवन-क्षेत्र में जिन बीजों को बोया है, उससे उगे विष-वृक्षों से लिपटे नागों ने व्यक्ति के हर्षोल्लास को पूर्णतः डस लिया है । अभावग्रस्त दरिद्रता का शिकार-सामाजिक जीवन-व्यवस्था की शोषणपरक प्रवृत्तियों का आख्यान बनकर आया है । नारायणलाल परमार ने इन स्थितियों का बयान यों किया है -

"होरी जैसा दिन
धनिया जैसी रात
सच्चाई के पहन मुखौटे
अफ़वाहें बैठीं
मैला हुआ पेट का नक्शा
पीठ रही ऐंठी
मुँह का सारा स्वाद चुकाकर
चटक रही है बात ।"[११४]

अब तो ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि गाँव की पगडंडियों से सुनायी पड़नेवाली आहटें भी गायब हो चुकी हैं । सिर्फ यादें बनकर रह गयी हैं -

"उड़ गयीं
पगडंडियों से
खुशबुएँ सब आहटों की
साँझ के मैले पगों में
कील-सी चुप्पी गड़ी है
अनमनी-सी मौनलीना
यह अरण्यानी खड़ी है
मुड़ सिवानों से गयी हैं
धेनुएँ अब आहटों की ।"[११५]

शहर केन्द्रित विकास के ढाँचे में गाँव की नियति सोयी रही । मशीनों की लगातार भरमार के कारण गाँव के परम्परागत पेशों के अवसर समाप्त होने लगे । यहाँ तक कि नाई, बढ़ई, लुहार, कुम्हार, मोची भी रोजगार की तलाश में शहर जाने को विवश हो गये क्योंकि जीविकोपार्जन के लिए इस विवशता के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प उनके पास नहीं था । इस तरह शरीर तो शहर-प्रवासी हो गया, किन्तु गाँव की प्रकृति से उसका मन विमुख नहीं हो पाया है, जो स्मृति के वातायन से जब-तब दृष्टि-पटल पर घूम जाती है -

"छोड़ आये थे जिसे हम
खेत में
पक गयी होगी सुनहली धान
महकती होगी हवा घर-गाँव की
हर देह
और हँसिये को
हुआ होगा
कुंवारी उंगलियों का नेह ।"[११६]

नवगीतकार अपने प्रकृति-परिवेश का तटस्थ द्रष्टा ही नहीं है, वह उस प्रकृति में बिल्कुल वैसे ही अन्तर्मुक्त है जैसे वह अपने परिवार के सदस्यों के साथ आत्मवत् है । प्रकृति के लम्बे सानिध्य में उसका व्यक्तित्व संस्कारित और विकसित हुआ है । प्रकृति-पदार्थों से ही उसने संवेदना का विस्तार पाया है । लहलहाते हरे-भरे खेत, फसलों की बुनाई, कटाई, निराई-गुणाई, खलिहानों में रखे अन्न भंडार, पंछियों का उल्लास, पेड़ों, झाड़ियों और झुरमुटों से आती-जाती हवाओं की सरसराहट आदि सभी कुछ से भरा हुई जीवन का नर्तन-उत्सव उसने जीया है । ये समग्र दृश्य उसकी आंखों में अभी भी अंकित हैं -

"माटी छाप हवा की पड़ती
पेड़ों की बज
रही ढुलकिया
जी भर फाग पखेरू गाते
ढरकी रस की राग गगरिया
मैंने ऐसा दृश्य निहारा
मेरी रही न
मुझे खबरिया ।"[११७]

ऐसे लोकोत्सवों का दृश्यांकन प्रायः अधिकांश नवगीतकारों ने अभिव्यक्ति की भिन्नता के साथ किया है । नवगीत में प्रकृतिमूलक स्मृतियाँ प्रमुखतः प्रकृति की महत्ता का ही उद्‌घाटन करती हैं । चिर परिचित प्रकृति से विलग होने की पीड़ा जिस रूप में व्यक्त होती है, उससे जीवन के क्षेत्र में प्रकृति की शाश्वत अनिवार्यता ही व्यक्त होती है -

"रह-रहकर जलपांखी गा जाते
जाने क्या गीत
क्षणभर को सिमटा-सा सन्नाटा
पंख फड़फड़ाता जाता है बीत
मैं हूँ, है संग मेरे
जल को छू न सके
जल पर झुकी हुई एक डाल ।"

प्रकृति को माध्यम बनाकर केवल जटिल यथार्थ की ही अभिव्यक्ति नहीं हुई है बल्कि अतीत की स्मृतियों एवम् प्रणयानुभवों की भावप्रवण स्थितियों का चित्रण भी नवगीत में प्रकृति के माध्यम से हुआ है । हरीश निगम ने प्रणयानुभवों को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त किया है -

"हँस के जो
बोल दिये तुमने
शब्द वे
गुलाब हो गये हैं ।
महके हैं
मन के
आँगन में,
फूल वही
रिश्तों के
तन में,
दिन अपने
जेठ की तपन-से
गंध की
किताब हो गये हैं ।
वासन्ती
धूप खिली
जब से
आंचल की
छाँव मिली
तब से,
कस्तूरी
हो गयी दुपहरी
सपने
सुरखाब हो गये हैं ।[११८]

योगेन्द्र दत्त शर्मा के गीतों में भी यही स्थिति है । कैलाश गौतम ने ऐसे ही सन्दर्भ को अपने एक नवगीत में इस प्रकार चित्रांकित किया है -

"बेवजह उलझता है
यह मन भी
अनचाहे सुर्ख़रू गुलाबों में ।...
सिहरन-सी
रेंगती
बदन भर में
कांटों की
क्षुद्र वारदातों से;
चिकने-उजाले सवाल
छिलते हैं
मौसम के खुरदरे जवाबों में ।"[११९]

साधारणतः गृहरति के रूप में जानी जाने वाली स्मृतिमूलकता नवगीत में जगह-जगह प्रतिगुंजित है । कवि की संवेदना जीवन के सामान्य अनुभवों की स्मृति में भी खोयी है और परिवेशगत सन्दर्भों की स्मृति में भी । परिवेश के प्रमुख अंग के रूप में प्रकृति का स्मृतिमूलक दृश्यांकन नवगीत में विशेष रूप से हुआ है । महेन्द्र कुमार मिश्र के निम्न नवगीत-पंक्तियों में प्रकृति का ऐसा ही स्मृतिमूलक चित्रण द्रष्टव्य है -

"पंकहीन धरती वह
खेत और परती वह
रेत के टीले वे बहुत याद आये ।
नीमों की गन्ध मन्द
दाक्खिनी बबूल वृन्द
'झूल' के लाल फूल फूले मन भाये ।"[१२०]

माहेश्वर तिवारी को लगता है कि जब इकला कपोत का जोड़ा कंगनी पर आ जाता है, तब दूर चिनारों के वन से वंशी का स्वर सुनायी पड़ने लगता है, जो सूखी टहनी पर अपने अधर धरे सो जाता है । तब कवि प्रेयसी की स्मृति कर अतीत में चला जाता है -

"लौट रही गायों के
संग-संग
याद तुम्हारी आती
और धूल के
संग-संग
मेरे माथे को छू जाती

रह-रह उभरे
जैसे कोई हंस अकेला
आँगन में उतरे ।"[१२१]

इस प्रकार प्रकृति के माध्यम से गीतों में प्रणय की स्मृति माहेश्वर तिवारी, नईम, बुद्धिनाथ मिश्र, ओम प्रभाकर, योगेन्द्र दत्त शर्मा और अखिलेश कुमार सिंह ने विशेष रूप से दृश्यांकित किया है । नईम ने 'शाम वाली डाक से खत आज आया प्यार का' जैसे गीतों के माध्यम से अतीत के प्रीति-सन्दर्भ को स्मरण किया है । ओम प्रभाकर के अधिकांश गीतों का विषय वही छूटा हुआ प्रणय-सन्दर्भ है। स्वेटर बुनते हुए दहलीज पर जा बैठी प्रिया की स्मृति कवि को आती है, रूप की तरल पिपासा और स्मृति-परक प्रणय-सन्दर्भों का सुन्दर कलात्मक चित्रण किसन सरोज के गीतों में भी दिखायी देता है। रूप और प्रेम-व्यापार की स्मृति में डूबे विजय किशोर 'मानव' अपने एक गीत में लिखते हैं-

"डूब जाय दुधिया चाँदनी में
जब सोया गाँव
कोई बहती नदी-बीच धोये
दो गोरे पाँव
जैसे संयम झुक कपोल पर
तपते अधर धरे ।"[१२२]

नवगीतकार हरीश निगम के गीतों में प्रीति-तत्व सर्वाधिक प्रमुख हैं । इनके नवगीतों में लोक-प्रचलित शृंगार प्रसाधनों और पारिवारिक सन्दर्भ से संलग्न एक सांस्कृतिक सौन्दर्य-बोध से सम्पन्न नारी-सौन्दर्य का चित्रण हुआ है । प्रणय की अनेक मधुर छवियाँ हरीश निगम की रचनाओं उभरी हैं । प्रकृति और मौसम के सन्दर्भों में कवि ने प्रेम का अनोखा चित्र उकेरा है -

"महके हैं
बहके हैं
दिन अपने
टेसू-से
दहके हैं
फागुनी बयार हुए हम-तुम ।"[१२३]

अखिलेश कुमार सिंह प्रणय के गुजरे हुए सन्दर्भों को चित्रांकित करते हुए लिखते हैं कि जब 'तुम' डायरी के पन्नों को खेलोगे तो अचानक हमारा नाम बोल उठोगे, तब दूब पर सोये हुए दिन अचानक याद आयेंगे और फिर याद आयेगा -

"धातु जैसी ठोस चुप्पी का
अचानक मोम होना
और जलती रेत पर वह
मोगरे के फूल बोना ।"[१२४]

ज्योति प्रकाश सक्सेना ने प्रेम व सौन्दर्य के व्यंजक अनेक खूबसूरत दृश्य प्रस्तुत किये हैं । रंगों का सुन्दर सामंजस्य लेकर उपस्थित होने वाला उनका एक गीत है-'हल्दिया हथेली पर' जिसमें उन्होने प्रकृति के माध्यम से रूप एवम् राग का अद्भुत चित्र खींचा है -

"हल्दिया हथेली पर
मेंहदी से लिखना तुम
अपने प्रियदर्शी के नाम
पीले वातायन पर उभरेंगे
कुंकुमी सवेरों के गुलमुहरी बिम्ब
दुधिया कछारों पर बिखरेंगे
कातिकियापूनम के प्रतिबिम्ब ।"[१२५]

नवगीत-कवि श्री कृष्ण तिवारी के कुछ गीतों में प्रणय का भावविह्वल दृश्यांकन मिलता है । यद्यपि उनके बहुसंख्य गीतों में वर्तमान जीवन की कटुताएं ही अधिक अभिव्यक्त हुई हैं तथापि अपने गिने-चुने प्रणय-विषयक गीतों में उन्होने प्रकृति को इस तरह समेटा है कि वे गीत अपने अभिव्यक्ति-सौन्दर्य के कारण अत्यन्त विशिष्ट बन पड़े हैं । यथा -

देखना अब फिर न आदिम गन्धवाले फूल
जूड़े में पिरोना
खिड़कियों पर खड़ी होकर
अब कभी आकाश आँखों में न बोना
लाल होती गुलमुहर की अंजुरियों को
ओ प्रिये !
अब दूब-अक्षत से न भरना ।"[१२६]

नवगीत में प्रकृति-चित्रण की व्यापकता विशिष्टताओं से सम्पन्न है । यह न तो छायावादी गीतों की भाँति जीवन की दैनन्दिनी से कटी एक रमणीय स्वर्गलोक की अभिव्यक्ति है और न ही यह छायावादोत्तर काव्य में चित्रित अभिसार-स्थली जैसी समाज-निरपेक्ष प्रकृति है, बल्कि नवगीत में उपस्थित प्रकृति अपने अनवरत निःसर्ग प्रकरण से भी जुड़ी है और जीवन की जीवन्त धारा से भी उसका गहर ।अनुराग है । परम्परा और वर्तमान की यह गहन सम्पृक्ति अनेक रचनाकारों के गीतों में उपलब्ध हैं । देवेन्द्रकुमार की निम्न नवगीत-पंक्तियाँ जिनमें प्रकृति के समानान्तर जिन अप्रस्तुतों का प्रयोग किया गया है, वह इसी वैशिष्ट्रय का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं -

"सूरज :
जैसे कोई लड़की - दो फुलना बाँधे
खिल-खिल हँसती
प्यारी-सी बैठी दिन के कांधे
दिनका रंग : चाय की खुशबू

भाप : उड़े बादल
चीनी मिट्टी के प्यालों से
छोटे-छोटे घर ।"[१२७]

विभिन्न ऋतुओं का नवगीत-काव्य में व्यापक चित्रण हुआ है । यहाँ भी प्रकृति के माध्यम से भावाभिव्यक्ति विशेष रूप से की गयी है । शीत, शरद, ग्रीष्म, हेमन्त, बसन्त, वर्षा आदि के माध्यम से हर्षोल्लास, उन्माद, उत्फुल्लता, वेदना, निराशा, घुटन, थकान, उदासी इत्यादि की अभिव्यंजना नवगीत के प्रकृति-चित्रण की विशिष्टता है । गीतकार सुरेश श्रीवास्तव ने उपर्युक्त ऋतुओं को आधार बनाकर जिन नवगीतों की सर्जना की वे उनके नवगीत संकलन 'ऋतु वृन्दावन' में संग्रहीत हैं । राम दरश मिश्र ने 'पक गयी है धूप' संग्रह में ग्रीष्म को आधार बनाकर अनेक गीतों में अपनी मनःस्थितियों की अभिव्यक्ति की है । अपने एक नवगीत में कवि ने बसन्त और शिशिर ऋतुओं को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम यों बनाया है -

"चलते-चलते समय रुक गया
फिर किसी पुकार पर
    बहने लगी नदी ज्यों
    अपने ही भीतर खोयी थी
    जाग उठी फिर प्यास कि जैसे
    मरी नहीं, सोयी थी
बजने लगा अनन्त स्वरों में
फिर बसन्त पतझार पर...
    हिलने लगी छुवन से फिर
    टहनी-टहनी ठहरी-सी
    लगती शाम शिशिर की
    यह फागुन की दोपहरी-सी
चिड़ियों-सी यादें उड़ती है
फैले हुए पठार पर ।"[१२८]

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' ने भी ऋतुओं को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है । उन्होने कई ग्रीष्म-गीतों की रचना की है । उनके एक नवगीत 'एक सपना अपाहिज' की ये पंक्तियां देखें -

"शाख से
टूटकर
एक पत्ता गिरा ।
    देखते सरहदों पर थे
    पीपल खड़े
    सुर्ख आवाज के

चन्द टुकड़े पड़े...
एक सपना
अपाहिज
नदी पर तिरा
चाँदनी में
सितारों की
केसर घुली
स्वाति जल माँगतीं
सीपियाँ अधखुली
जल गया
रेत पर
एक बादल घिरा ।"[१२९]

ऋतुओं को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर रचना करने वाले अन्य नवगीत-कवि हैं - जहीर कुरेशी, वीरेन्द्र मिश्र, सूर्यभानु गुप्त, सूर्य कुमार पाण्डेय, राजेन्द्र गौतम, इसाक 'अश्क', कुंवर बेचैन, अमरनाथ श्रीवास्तव, कुमार रवीन्द्र, अखिलेश कुमार सिंह, उमाकान्त मालवीय, शान्ति सुमन, विष्णु विराट, निदा फ़ाजली, कैलाश गौतम, सुधांशु उपाध्याय आदि । सूर्यकुमार पाण्डेय का ग्रीष्म-चित्रण वस्तुपरक है । 'नदी के अब होंठ सूखे हैं / तेज झोंके बहुत लू के हैं ।' जैसे नवगीतों में उन्होंने ग्रीष्म ऋतु की सही स्थिति को अंकित किया है । राजेन्द्र गौतम ग्रीष्म को चित्रांकित करते हुए लिखते हैं -

'तटों की पीठ पर भी धूप का आतंक आ पसरा ।
सिहरती दूब के खरगोशबन्दी प्यास के छल में ।'

सूर्यभानु गुप्त को लगता है कि, दोपहर एक भटियारिन है, जो चने भून रही है । अमरनाथ श्रीवास्तव को रग-रग में सन्नाटे की अनुभूति हो रही है, हवा मुंह पर चांटे मार रही है । इसाक 'अश्क' अनुभव करते हैं कि, ग्रीष्म की हवाएं कूपित कैकेयी जैसी हो गयी हैं और पादपी ऋचाएं पथरा गयी हैं । जहीर कुरेशी 'पहाड़ से गर्मी' के दिनों को चित्रांकित करते हुए लिखते हैं कि सूरज के बाण से बिंधी हवा कटे पंख फड़फड़ा रही है । मधुवन भी उजाड़-से लगते हैं । कवि ने 'जून की दुपहरी : कुछ मनःस्थितियाँ' नवगीत में लिखा है -

"आंगन में आ बैठी
चिड़िया भी है उदास
दुपहर की भट्ठी में
जलता है अमलतास
मन करता है -
दो पल फूट-फूट कर रो लें ।"[१३०]

अखिलेश कुमार सिंह को लगता है कि सदियाँ आने पर नदी अनमनी होने लगी है । दिन खरगोश

के छौनों सरीखे हो गये हैं । राजेन्द्र गौतम कहते हैं कि, वासन्ती आश्वासनों की डोर बढ़ गयी है, नवमल्लिका पर धूप की अनगिन शाखाएँ खिल गयी हैं और पद्मगन्धा भोर सद्यःस्नाता-सी खड़ी है जिससे समूचे देह में रोमांच का अनुभव हो रहा है ।

नवगीत में बसन्त ऋतु के अनुभवों को व्यक्त करने वाले गीतों का भी अभाव नहीं है, किन्तु इन गीतों में केवल दृश्य-प्रस्तुति कवि का लक्ष्य नहीं रहा है, बल्कि जीवन का सर्जनात्मक विश्वास एवम् उत्फुल्ल आनन्द ही इन गीतों में अधिक व्यक्त हुआ है । नवगीत में हुए ऋतु-वर्णनों में ग्रीष्म ऋतु के पश्चात् वर्षा ऋतु को सर्वाधिक स्थान मिला है । यहाँ वर्षापरक गीतों के दो स्वर सुनायी पड़ते हैं । एक में वर्षा के सौन्दर्य, उल्लास और आवेग की अभिव्यंजना है तो दूसरा स्वर आतंक और ध्वंस का है ।

वर्षा को आधार बनाकर वीरेन्द्र मिश्र ने अनेक सुन्दर गीतों की रचना की है । उमाकान्त मालवीय के 'एक चावल नेह रींधा' में आंचलिकता सापेक्ष प्रकृति सन्दर्भों के माध्यम से रोमान की अभिव्यक्ति हुई है । केवल संयोगात्मक शृंगार की उन्मादकता के सन्दर्भ में ही वर्षा का चित्रण नवगीत में नहीं हुआ है, बल्कि एक तरल उदासी, एक रिक्तता की मार्मिक अभिव्यक्ति भी हम वर्षा के बीतने के समानान्तर नवगीत में पाते हैं । गीतकार जगत् प्रकाश चतुर्वेदी की निम्न नवगीत-पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में उद्धरणीय हैं -

"जाते ही जाते बरसात वह
आँखों में एक घटा छोड़ गयी
कितनी सौगन्धें वे साथ की
मेरी ही छाँव आज तोड़ गयी
काँधे पर
ताजमहल लादे
इस मन का प्रीति-प्रहर बीत गया ।"[१३१]

अशोक 'अन्जुम' लिखते हैं -

"मौसम साज़िश रचता है
ऋतु के रंग बदलते हैं
जिनको दो जिम्मेदारी
वे तिकड़मी निकलते हैं...
अंधकार गर्वित होकर
फूला-फूला फिरता है
ज्यों ही दीप जलायें हम
तूफानों से घिरता है ।"[१३२]

डॉ. विष्णु विराट ने वर्षा ऋतु के उत्पात से उत्पन्न भयावह स्थिति का दृश्यांकन करते हुए अपनी अभिव्यक्ति

को इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

"एक नीली आँख का पाकर इशारा
आंधियों ने
फिर उखाड़ी बस्तियाँ ॥
खेत रूँधे
खूब खुल खलिहान खूँदे,
बैल भागे वनचरों से जुड़ गये ।
थरथरायी झौंपड़ी
कच्चे घरों की रह गयी दीवार
छप्पर उड़ गये ।
फिर उफनने लग गया
पानी नदी का
फिर किनारे बँधी डूबीं कश्तियाँ ॥"[१३३]

नवगीत में वर्षा की आकुल स्थितियों का भी चित्रण बखूबी हुआ है । शान्ति सुमन ने इस स्थिति को अपने गीतों में अनोखी अभिव्यक्ति दी है । कवियित्री को लगता है कि, शिराओं की बैंजनी नदी काँप रही है, अभी ठहरे हुए बादल नहीं बरसेंगे । सूर्य पेड़ की फुनगियों से बँधा है, अभी नीदों के पाँव मेंहदी लगी है । कवियित्री बादलों से लौट आने के लिये निवेदन करती है -

"फूलते पीले पलासों में
काँपते हैं खुशबुओं के घाव
रुकी धारों में कई दिन से
हौंसले से कागजों की नाव
उग रहा है मौसमी सन्देह
बादल लौट आ ।"[१३४]

नवगीत-काव्य में प्रकृति-क्षेत्र से अप्रस्तुतों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति भी विशेष रूप से मुखर हुई है । नवगीत के शिल्प-विधान का विश्लेषण प्रमाणित करता है कि हर छोटे-बड़े नवगीतकार की संवेदना प्रकृतिमय बिम्बों, प्रतीकों एवम् अप्रस्तुतों के माध्यम से अभिव्यक्ति पा सकी है । "प्रकृति धरातल पर ही भाषा-सूचनात्मक गद्य से अपना अलगाव प्रमाणित करती हुई इन्द्रिय-संवेद्य रूपात्मकता में ढलकर कविता बनती है । नवगीतकार ने पाठक को सूचनायें, विज्ञप्तियाँ, नारे, सिद्धान्त, सूत्र एवम् सूक्तियाँ थमाने की अपेक्षा, उसे अनुभूत-जगत का सहभागी बनाने का प्रयास किया है, इसीलिए प्रकृति का नवगीत की संवेदना और शिल्प में सर्वाधिक विशिष्ट स्थान है ।"[१३५]

जहाँ तक प्रकृति की प्रतीकात्मकता का सम्बन्ध है, छायावादी गीतों की भाँति नवगीत में प्रयुक्त प्रतीक भी मुख्यतः प्रकृति जगत से ही उद्धृत हैं । किन्तु छायावादी गीतों के प्रतीक रहस्यवादी वैयक्तिक प्रणय को अभिव्यक्त करते हैं, जबकि नवगीत के प्रकृतिपरक प्रतीक वर्तमान युग की विभीषिकाओं को

ही अधिक चित्रांकित करते प्रतीत होते हैं। यदि हम सद्यःप्रतिष्ठित नवगीत-कवियों के गीतों का अध्ययन करें तो यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखायी देती है। कुमार रवीन्द्र की ये पंक्तियाँ देखें -

"पतझर आज हुए
कल तक थे ये भी
दिन मीठी बयार के।
    आँगन में
    खुशबू के झोंके
    बहुत पुराने नहीं हुए हैं।
    बूढ़े हुए
    मगर बातों में चतुर
    आज भी वही सुए हैं।
छत है खाली
कभी वही पर जुड़ते थे
मेले बहार के।...
    फूलों के
    गुलदस्तों वाली
    महफ़िल माना नहीं रही है।
    पर इच्छाओं का जलसा
    जो चलता अन्दर
    वही-वही है।
शेष रहेंगे
अन्तिम साँसों तक
दिन भोले इन्तजार के।"[१३६]

युवा गीतकार सुधांशु उपाध्याय के नवगीतों में प्रकृति के माध्यम से युगीन विसंगतियों एवम् विद्रूपताओं को बड़ी खुबसूरती से चित्रांकित किया गया है। यथा -

"हिम शिखर हिलने लगे हैं
    घाटियों में आग के -
पदृचिह्न अब मिलने लगे हैं
    यह अँधेरा भाप
    बनकर उड़ रहा है
    रोशनी का मुँह
    इधर ही मुड़ रहा है
    फिर पखेरू पंख अपने
    चोंच से सिलने लगे हैं।"[१३७]

आचार्य शुक्ल की मान्यता है कि, 'प्राकृतिक परिवेश हमारी वासनाओं को उत्प्रेरित करने में सर्वाधिक सहायक है ।' किन्तु नवगीत राग-निरपेक्ष काव्य नहीं है । प्रकृति के विविध रूपों में खोया हुआ नवगीतकार आलम्बन और आश्रय दोनों ही पक्षों में प्राकृतिक उपकरण स्थापित करता है । आश्रय के सन्दर्भ में वह प्रकृति का मानवीकरण करता है जहाँ पर्वत हैं, पठार हैं, नदियाँ हैं, झरने हैं, सरोवर हैं, जलाशय हैं, उद्यान हैं, बाग-बग़ीचे हैं, समुद्र हैं, बारिश हैं, बिजलियाँ हैं, घटाएँ हैं, और भी बहुत कुछ ऐसा है जो प्रकृति के प्रांगण से अधिग्रहीत है । नवगीत-काव्य में जंगल अथवा वनों के सन्दर्भ जहाँ मिथक के प्रभाव से ग्रहण किये गये हैं, वहाँ पंचतंत्र की हितोपदेशीय, आरण्यक कथाओं को केन्द्र में रखा गया है । इन आरण्यक आख्यानों के समानान्तर ही एक अभिनव तथा मौलिक प्रतीक-संयोजना निश्चित की गई है, जिसके तहत समसामयिक कथ्यों के अभीष्ट उद्घाटित किये गये हैं । जहाँ आरण्यक उपाख्यानों के इतर प्रकृति की विविध दृश्यावलियों को समायोजित किया गया है, वहाँ नदी, पेड़, पर्वत, बादल आदि कथ्य विशेष रूप से विद्यमान हैं ।

वैसे तो निराला से लेकर सम्प्रति यश मालवीय तक की इस नवगीत-यात्रा में प्रकृति के वाचन के विविध रूप सामने आये हैं । नवगीत के विभिन्न पड़ावों पर आम आदमी के इर्द-गिर्द मौजूद प्रकृति की वैविध्यपूर्ण, छटा दृष्टिगत होती है । इस प्रकृति-गायन में सर्व श्री शम्भुनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह, केदारनाथ सिंह, अमरनाथ श्रीवास्तव, वीरेन्द्र मिश्र, उमाकान्त मालवीय, अनूप अशेष, उमाशंकर तिवारी, ओम प्रभाकर, रवीन्द्र 'भ्रमर', कुमार रवीन्द्र, गुलाब सिंह, दिनेश सिंह, जहीर कुरेशी, बुद्धिनाथ मिश्र, माहेश्वर तिवारी, नईम, राम दरश मिश्र, विनोद निगम, हरीश निगम, सत्यनारायण, सोमठाकुर, शलभ श्रीराम, कुंवर बेचैन, यश मालवीय, किशन सरोज, विष्णु विराट, शीलेन्द्र सिंह, शान्ति सुमन, उदय भानु हंस, अरविन्द सोरल आदि नवगीतकारों की उपस्थिति उल्लेखनीय है । नवगीत की यह वरिष्ठ परम्परा आज तक प्रकृति के प्रांगण में इन्द्रधनुषी दृश्यों का संयोजन करती रही है । इनमें कहीं प्रकृति उद्दीपक के रूप में सामने आकर अनेकानेक बिम्बों व प्रतीकों के माध्यम से तयशुदा अभीष्ट कथ्यों को उद्घाटित करती रही है, तो कहीं वैसे ही निर्विकार व निश्छल रूप से कथ्य के प्रभाव को अग्रसर करती हुई अपने सहज सन्दर्भ को भी प्रस्तुत करती रही है ।

प्रकृति का एक निश्छल और सौम्य स्वरूप ग्राम्य-संस्कृति के इर्द-गिर्द बिखरा हुआ मिलता है, जहाँ माँ तुलसी है, भाई कचनार है, बहन लाजवन्ती है, वधुएँ छुईमुई हैं और कटीली झाड़ियाँ जहाँ शत्रु बन कर आयी हैं, जहाँ गाँव छोड़कर शहर में बसे हुए आदमी के जेहन में ग्रामीण प्रकृति सम्पन्न परिदृश्य उसे पुकारते रहते हैं । धूप में झुलसे हुए जिस्म को गाँव की ठंडी हवाएँ आवाज देती हैं। गाँव पगडंडियों, तालाब-पोखर, बाग-बगीचे आदि के अनेक दृश्य नवगीत में विद्यमान है जो गाँवों की प्राकृतिक सम्पदा और धरोहर को उकेरने में सक्षम हुए हैं ।

नगरों-महानगरों में संयोजित उपवनों एवम् अन्य प्राकृतिक उपादानों के प्रति भी नवगीतकारों ने अपने तेवर प्रकट किये हैं । सामन्तशाही, पूँजीवाद, जमींदारों, सेठ-साहूकारों के प्रति सम्पन्नता एवम् विलासिता के प्रतीक ये बाग, उपवन, वाटिकाएँ नवगीतों में सदैव छाये रहे हैं ।

निष्कर्षतः यह कहना अनुचित न होगा कि, 'प्रकृति' नवगीत-काव्य का अविभाज्य अंग है ।

नवगीतों में प्रकृति की विभिन्न भाव-भंगिमाएँ, उसके विविध परिदृश्य अनेक अर्थों के साथ स्थान-स्थान पर व्यक्त हुए हैं । प्रकृति के माध्यम से मानव-जीवन के संत्रास या उल्लास की अभिव्यक्ति जीवन और प्रकृति के अन्तःसम्बन्धों की संश्लिष्ट चित्रात्मकता है ।

मिथक प्रयोग :-

मिथक हमारी सभ्यता और संस्कृति के अंग होते हैं । चूँकि अपनी सामाजिकता, संस्कृति और सभ्यता के प्रति रचनाकार के मन में सहज एवम् स्वाभाविक आकर्षण होता है और जब वह वर्तमान की भयावहता, पीड़ा, संत्रास, ऊबन, उदासी, घुटन एवम् तनाव तथा अन्य सामाजिक दंश को देखता है तो उसे छटपटाहट होती हैं, तड़प होती है । इसी छटपटाहट और तड़प से छुटकारा पाने हेतु समकालीन अन्तर्विरोधों को अभिव्यक्ति देने के लिये अपने अतीत की जातीय धरोहर की ओर मुड़कर देखने लगता है किन्तु यह गौरतलब तथ्य है कि समकालीन नवगीत की रुचि किसी मिथक की कथा के स्थूल प्रसंगों में नहीं रही है । नवगीत में हो रहे मिथकीय प्रयोग को लेकर भी बहसें हुई हैं और बहुत से पौराणिक मिथकों के आधार पर बड़ी रचनाएँ हुई हैं लेकिन जनवादी परिप्रेक्ष्य में इन मिथकीय प्रयोगों की सहभागिता कुछ लोगों के गले नहीं उतरती । दरअसल मिथकों का बड़ा महत्व रहा है । मिथक एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को स्थानान्तरित होते हुए सामूहिक अवचेतन में सदैव सुरक्षित रहते हैं । समय गुजरने पर समय की माँग के अनुरूप समर्थ रचनाकार जरूरत पड़ने पर इन्हें अवचेतना से निकालकर इसमें नयी शक्ति का संचार करते हैं । नवगीत-काव्य में मिथकों के प्रति विशेष आकर्षण, अभिरूचि, अनुराग और सम्मोहन इसी का परिणाम है । दरअसल, सिर्फ नवगीत में ही नहीं, समग्र साहित्य में उन्नीसवीं सदी के स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के पश्चात् मिथक के महत्व को उसकी विशिष्टताओं तथा अर्थछटाओं को नयी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है । समकालीन नवगीतकारों में बढ़ रही मिथकीय चेतना को इसी सन्दर्भ मं देखना उचित होगा ।

वर्तमान में किन्ही धार्मिक आधारों को स्वीकार करने के बदले मिथकों द्वारा उन्हीं धार्मिक एवम् साम्प्रदायिक विश्वासों को चुनौती दी जा रही है । नवगीत में मिथकों का माध्यम चयन करने के पीछे यह सदैव रहा कि वह मानवीय सत्य की खोज कर सके तथा सम्प्रेषण का एक व्यापक एवम् विशिष्ट आधार ग्रहण कर सके । इसके अलावा अतीत का पुनर्मुल्यांकन, युग-दृष्टियों की विविधताओं और स्वयं में चिपकी अतीत की रूढ़िवादी स्मृतियों का संहार भी आज की मिथक धर्मी रचनाशीलता का प्रमुख लक्ष्य रहा है । मिथकीय प्रयोग की परम्परा भी उतनी ही प्राचीन है जितना स्वयं काव्य । नवगीत-साहित्य में मिथकीय प्रयोग को बड़े पैमाने पर स्वीकृति मिली है । यहाँ इसका मुख्य प्रतिपाद्य वर्तमान यथार्थ के समानान्तर एक मिथकीय परिवेश उपस्थित करना तथा पौराणिक एवम् ऐतिहासिक सन्दर्भों को नये सिरे से पुनर्गठित करना रहा है । यथा -

''हिल रहा है इन्द्र का आसन अचानक
तप रहा कोई तपी संकल्प लेकर
तोप के मुँह पर्वतों की ओर क्यों है ?
कन्दराओं के, गुफाओं के मुहाने

फूटते बारूद के गोले धमाधम
अणु-परीक्षण के भयंकर शोर क्यों है
हँस रहा है इन्द्र, ब्रह्मा मुस्कराता,
अप्सराएँ वारुणी के चषक देतीं
फैलता मद
फिर व्यवस्था होश खोती,
फिर धुंए में डूबता है शहर
बस्ती काँपती है ।"[१३८]

'मिथक' का निर्माण श्रेष्ठ काव्य की एक मानक कसौटी है । इस दृष्टि से नवगीत अधिक समृद्ध दिखाई देता है । काव्य में मिथक का प्रयोग प्रायः दो तरीकों से होता है । एक तो प्राचीन मिथकों की नये सन्दर्भों में पुनर्व्याख्या से, जिससे उसमें नये अर्थ जाग्रत होते हैं, तथा दूसरे - नयी परिस्थितियों, परिवेश एवम् सन्दर्भों के अनुरूप नये मिथकों के निर्माण से । "पारम्परिक मिथकों के प्रयोग से सर्जना के नये आयाम प्राप्त करने की कोशिश नयी नहीं है किन्तु उसमें नये अर्थों को तलाशने की प्रवृत्ति नयी कविता एवम् नवगीत के प्रादुर्भाव से ही हुई है । नये मिथकों की रचना वैसे तो समय-सापेक्ष होती है, किन्तु जब वे सार्वकालिक अर्थातों से जुड़ जाते हैं, तो उन्हें कालातीत अर्थवत्ता प्राप्त हो जाती है । नवगीत में पुरातन मिथकों की उपस्थिति तो उल्लेखनीय रही है, किन्तु नये मिथकों की दृष्टि से सम्भवतः इसका अवदान उतना समृद्ध नहीं रहा है । फिर भी इधर के कुछेक गीतों में कुछ अत्यन्त सफल मिथकों की संरचना हुई है ।"[१३९]

नईम के नवगीतों में मिथकीय संरचना के कई सन्दर्भ प्राप्त होते हैं । उनकी ये पंक्तियाँ इस दृष्टि से उनकी इस सामर्थ्य को सन्दर्भित करती हैं -

"अर्थ धुंधले हुए,
शब्द बासी हुए ।
कुर्क होकर रहे
खेत, खलिहान, घर,
जन्म से ऋण-ग्रसित
हम प्रवासी हुए ।...
दाहिने देवता
वाम हैं देवियाँ
दौड़ता ही रहा
इस नगर, उस नगर
ये न मगहर हुए
वो न काशी हुए ।
अर्थ धुंधले हुए
शब्द बासी हुए ।"[१४०]

या फिर -

"रावण ही रह गये आज प्रभु को उपासने
रुई बन्द कर दी देना देशी कपास ने ।
प्रभु चोरों का भाग्य विधायक
- ये कहते हैं
- वो कहते हैं
ऐसा कोई रूल नहीं है ।"[१४१]

अमरनाथ श्रीवास्तव अपने घर की दैनन्दिनी को बयान करते हुए कहते हैं -

"पुस्तैनी रामायण
बँधी हुई बेठन में,
अम्मा ज्यों जली हुई
रस्सी है ऐंठन में
बाबू पसरे जैसे
हारकर जुआ ।"[१४२]

डॉ. विष्णु विराट की इन नवगीत-पंक्तियों में कई मिथकों की एक साथ संयुक्ति हुई है -

"एक राजा
हाथ में तलवार लेकर
घूमता है वन-विजन में हड़बड़ाता
स्वयं की परछाइयों से खौफ़ खाता
एक निशिचर-
लाँघ कर मरज़ाद अपनी
फाड़कर मुँह बस्तियों तक चला आता
एक सन्नाटा शहर में फैल जाता ।"[१४३]

उमाशंकर तिवारी की इन नवगीत-पंक्तियों में एक नये मिथक की परिणति हुई है -

"गंगोत्री में पलना झूले
आगे चले बकइयाँ
भागीरथी छुटुरुवन डोलें शैल-शिखर की छइयाँ ...
भूखा कहीं देवव्रत टेरें
दूध भरी है छाती,
दौड़ पड़ी ममता की मारी
तजकर संग-संघाती,
गंगा नित्य रंभाती फिरती जैसे कपिला गइया ।
सारा देश क्षुधातुर बेटा, वत्सल गंगा मइया ।"[१४४]

रवीन्द्र भ्रमर के नवगीतों में मिथक का विभिन्न रूपों में प्रयोग हुआ है । किन्तु धार्मिक-पौराणिक मिथकों की प्रयुक्ति उनके मिथकीय गीतों की विशिष्टता है -

"रुके न तट पर किसी लहर के पाँव
नदिया बहती जाये ।
बीत गयी पूजा की बेला
मन्दिर में उदास बैठा है इष्ट अकेला,
सन्नाटे में डूबा गाँव-गिराँव
नदिया बहती जाये ।...
जोगी-जती, साधु सन्यासी
जिनकी मुट्ठी में मथुरा, करतल पर काशी
रोक न पाये धारा को इस ठाँव
नदिया बहती जाये ।"[१४५]

एक अलग तरह का मिथकीय बिम्ब रचा है भारत भूषण ने, जो निम्न नवगीत-पंक्तियों में द्रष्टव्य हैं-

"तू कहाँ खो गयी वैदेही,
वैदेही तू खो गयी कहाँ ?
मुझसे राजीव नयन बोले
काँपी सरयू, सरयू काँपी
देवत्व हुआ लो पूर्ण काम ।
नीली माटी निष्काम हुई,
इस स्नेहहीन देह के लिए
अब साँस-साँस संग्राम हुई ।
ये राजमुकुट, ये सिंहासन,
ये दिग्विजयी वैभव अपार ।
ये प्रियाहीन जीवन मेरा
सामने नदी की अगम धार ।।"[१४६]

इसी तरह के मिथकीय बिम्बों एवम् प्रतीकों का चित्रांकन अन्य गीतकारों ने भी किया है जिनमें चन्द्रसेन विराट, शिव ओम 'अम्बर', विष्णु विराट, माहेश्वर तिवारी, गुलाब सिंह, दिनेश सिंह, शीलेन्द्र सिंह, नीलम श्रीवास्तव, बटुक चतुर्वेदी, देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', रामसेंगर आदि के नवगीत उल्लेखनीय हैं । शिवओम अम्बर ने गीतों में एक साथ कई मिथकीय बिम्बों एवम् प्रतीकों को ग्रहण कर नवगीत को एक नया मिथकीय आयाम दिया है । यथा-

"रे मथुरा के बाँट से, मत बरसाने तोल ।
मोहन हैं बहुमूल्य तो राधा है अनमोल ।।
तेरा श्रीविग्रह रहे, सनमुख आठो याम ।

आँखें अन्धे सूर की दे दो मुझको श्याम ॥
ग्लानि ग्रस्त हो , त्रस्त हो, क्यों हो वह निस्वास ।
कुब्जा को है कृष्णा की बाहों का विश्वास ॥
शब्दों में कैसे बँधे, सीता का संत्रास ।
रावण ने दी वाटिका, राघव ने वनवास ॥''[१४७]

या फिर कवि की ये पंक्तियाँ देखें -

''तर्क को दिखे ही नहीं, सृष्टि में कहीं भी प्रभु,
मुग्ध भाव-दृष्टि ने निहारे लक्ष-लक्ष में ।
पत्र पीपलों के वैष्णवत्व के प्रतीक दिखे,
समाधिस्थ दिखा शिवतत्व वट वृक्ष में ॥
कहाँ राजकीय भोज, कहाँ चन्द जूठे बेर,
दीन बन्धु बैठ गये, शबरी के पक्ष में ।
राजभवनों के कक्ष-कक्ष में तलाशा गया,
राजा रामचन्द्र मिले मारुति के वक्ष में ॥''[१४८]

रमेश चन्द्र शर्मा 'कपिल' लिखते हैं -

''सपनों के रंगीन क्षितिज पर,
बाहों में तुम बाँहें डालो ।
चलो वक्ष से वक्ष लगा लो,
मैं गिरता हूँ मुझे संभालो ।
वेद-पुराणों से भी आगे
प्रीति रीति की ऋचा रचायें
जब तक चाँद गगन में आओ... ।''[१४९]

नीलम श्रीवास्तव ने भी ऐसे ही मिथकों का प्रयोग अपने कई गीतों में किया है -

''ऐसा भी आयेगा मौसम
यह उम्मीद न थी
प्यासी मरीं मछलियाँ
रोई भर-भर आँख नदी;
मेघ-मरुत-सूरज-धरती
किससे क्या चूक हुई -
भरी-भरी बाहर से नदिया
भीतर सूख गयी ।
गंगा-यमुना-कावेरी --

कोई सम्बोधन दो
सोयी ओढ़ चदरिया मैली
खोकर साख नदी ।''[१५०]

एक अन्य नवगीत देखें -

''यहाँ-वहाँ उठ रहा धुँआ
आग कहाँ है
पता करो ?
आँखें वर्णान्ध हो गईं
इतनी कड़वी हुई हवा
सन्धि पत्र बाँचती नहीं
अब कोई मन्त्रणा-सभा
क्यों अरण्यवास को
विदुर
भाग रहा है
पता करो ?''[१५१]

प्राचीन मिथकों की अर्वाचीन प्रसंगों की संगति की दृष्टि से संभवतः देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' के गीतों की संख्या सर्वाधिक है । 'गीत के स्वयंवर' गीत इस बात का प्रमाण है जो इन पंक्तियों में ध्वनित हुआ है -

''हाँ हमने गीत के स्वयंवर में
तोड़ी है प्रत्यंचा छन्द के धनुष की ।
अँधियारी लय के
कान्तारों में हम
कालजयी रस आखेटक,
आश्रयदाताओं के
अभिनन्दन में
झुका नहीं अपना मस्तक,
हमने कब मानी है भाषा अंकुश की ।
जब हुआ अयोध्या में
राज्यारोहण
निर्वासित हुई जानकी,
आँसू में हमने रोपी
रामायण
कलंगी ज्यों हरे धान की,

बाँचेगी कल जिसको पीढ़ी लवकुश की ।"[१५२]

निम्न पंक्तियों में भी ऐसी ही संगति है, देखें -

"मानपत्र सूर्य बाँचता
जुगनू के अभिनन्दन में ।
इन्द्रधनुष की डोरी पर बादल-सा
यह किसका कटा हुआ सिर लटका है
गंगा की धारा-सा बहता जीवन
बरसाती नालों में आ भटका है
जलतरंग-सी बजती
रेती की हर धड़कन में ।
अश्वत्थामा के घायल मस्तक-सी
यह जो झिलमिल होती शाप की मणी,
धूम्र-वलय उड़ते हैं धूसर पथ पर
मन्त्र मेघ में जलती सूखी अरणी,
डँसती है सर्पिणी हवा
लपटें उठती चन्दन में ।"[१५३]

धनंजय सिंह ने भी ऐसे ही मिथकों का प्रयोग अपने कई नवगीतों में किया है -

"पूंछें उपलब्धि हो गयीं
व्यर्थ हुआ खेल सांप-सीढ़ी
अभिमन्त्रित हुई, सो गयी
युद्धभूमि में युयुत्सु पीढ़ी,
कन्धों पर ले निषंग रीते ।
खुद ही अज्ञातवास ओढ़कर
धनंजय वृहन्नला हुआ,
मछली फिर बाँस पर टंगी है
धनुष पड़ा किन्तु अनछुआ,
कौन इन स्वयंवर को जीते ।"[१५४]

इसाक 'अश्क' के निम्न नवगीत पंक्तियों में बड़े सार्थक मिथकीय प्रयोजन हुए हैं -

"धूप के हुए
न कभी छांव के हुए,
हम जब भी
हुए, शकुनि-दांव के हुए ।...

लाक्षागृह
षड्यन्त्रों के सुघड़ बनाये,
अपने ही
स्वजन हमें शत्रु नजर आये,
शहर के हुए
न कभी गाँव के हुए ।"[१५५]

नवगीतकार केदारनाथ अग्रवाल ने भी बड़े सुन्दर मिथकीय सन्दर्भों को अपने गीतों में समेटा है-

"आसमान की ओढ़नी ओढ़े
धानी पहने फसल घंघरिया ।
राधा बनकर धरती नाची,
नाचे हंसमुख कृषक संवरिया ।
माती छाप हवा की पड़ती,
पेड़ों की बज रही ढुलकिया ।
जी-भर फाग पखेरू गाते,
ढरकी रस की राग-गगरिया ।
मैंने ऐसा दृश्य निहारा
मेरी रही न मुझे खबरिया
खेतों के नर्तन-उत्सव में,
भूला तन-मन गेह गरिया ।"[१५६]

गुलाबसिंह के नवगीतों में मिथकों का सहज एवम् स्वाभाविक प्रयोग दिखायी देता है -

"सरसों के पीले पृष्ठों पर
हवा गीत गोविन्द लिखे,
रहकर मौन दर्द दुहराते
शीश झुकाये गाँव दिखे,
बजते हैं बाँसुरी सरीखे,
आँसू-से बहते हैं दिन ।
सूखे अधर, प्यास पथरायी
नयन उरेहें सपने,
पानी-पत्थर बीच प्यार के
अंखुए लगे पनपने,
शाकुन्तल, सतसई खोलकर
मोर पंख रखते हैं दिन ।"[१५७]

नवगीत को भारतीय जमीन का काव्य कहा जाता है, और इसके पीछे इस काव्य-धारा का पौराणिक,

ऐतिहासिक एवम् पुरातात्विक दृष्टिबोध है । नवगीतकारों की दृष्टि में, अतीत के सन्दर्भ उघाड़ना या स्मृति में जाना अतीत के प्रति सम्मोहन न होकर उस परम्परा में स्वयं को खोजना है जो हमारे भीतर अस्तित्वमान है । जो न तो चुकी है और न मृत हुई है, वरन् वह में नये रूप में सर्जित कर सकने की क्षमता रखती है । निर्मल वर्मा की कृति 'कला का जोखिम' में कहा गया है - "भविष्य हमें कुछ नहीं देता, खुद हमें उसका निर्माण करने के लिए अपना सर्वस्व, अपना जीवन तक देना पड़ता है । किन्तु हम कुछ दे सकें, इसके लिए जरूरी है कि, हमारे पास कुछ हो और हमारे पास कोई दूसरा जीवन कोई सृजन रस नहीं है सिवा अतीत के उन खजानों के जिन्हें हमने अपने भीतर आत्मसात करके नये रूप से सर्जित किया है । मनुष्य की आत्मा की जरूरतों में अतीत की जरूरत सर्वाधिक शक्तिशाली है ।"[१५८] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी आधुनिकता के निर्माण में परम्परा की भूमिका और अतीतबोध को आवश्यक माना है । नवगीत रचनाकारों ने इस तथ्य को भली-भाँति समझा और काव्य में समादृत किया । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

"नत नयनों की चितवन वीथी ज्यों मिथिला की
अलसायी प्रतिमा-सी यौवन मद शिथिला की
वरदायिनि मुद्रा-सी कामधेनु कपिला की ।"[१५९]
०० ०० ०० ०० ०० ००
"लक्ष्मण रेखाओं में वैदेही ज्वालाएँ
भोग रहीं निर्मम वनवास
छलिया कंचन मृग-सा मेघ-खण्ड आवारा
टेर रहा प्यास, प्यास, प्यास ?"[१६०]

पूजनीय चौखट अश्लील देव-प्रतिमा,
श्रद्धानत माथे देते जिनको गरिमा,
अर्थहीन फेरों को बेच दिये हमने
चलते ये पाँव और जुड़ते ये हाथ !
खोखली सभी ध्वनियाँ, दले हुए पौरुष,
गुस्सेवर चेहरे, अभिनय करते लवकुश,
तापहीन लाशों को ढोते हैं सड़कों पर
मानव हम करते पशुता को भी मात ।"[१६१]
०० ०० ०० ००
"समय अब
सहमत नहीं
पूछती सीमान्त की टूटी शिला
सर्व-यज्ञ समाप्त
कब का हो गया

किन्तु मन्त्रों का मुखर क्यों सिलसिला
सुनो जनमेजय !
कि समिधा रोक दो
आज 'तक्षक' हुआ
शरणागत नहीं ।"[१६२]

पौराणिक प्रसंगों के माध्यम से आधुनिक मन और आधुनिक वस्तु-यथार्थ को अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति सभी नवगीतकारों में है । रचना-प्रकृति से यह भी ज्ञात होता है कि प्रसंगों को विन्यस्त करने की कोशिश न होकर वह कवि-संस्कारों से सहज ही अनुस्यूत हुए हैं । भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के लगभग दो दशकों बाद विदेश जाकर नौकरी करने और बसने की भावना लोगों में बलवती हुई है । वे विदेश जाकर बस गये और उन्होने आर्थिक तथा यश-आकांक्षाओं की पूर्ति कर ली किन्तु भौतिक संसाधनों से सम्पन्न होते हुए भी उनका मन 'भारतीयता' से विचलित नहीं हो सका । "अब तो ये तथ्य ज्यादा खुलकर सामने आने लगे हैं कि विदेश प्रवासी भारतीय अन्ततोगत्वा अपनी जन्मभूमि और 'भारतीयता' के लिए एक अव्यक्त टीस लेकर जीते हैं । इस मर्म को साहित्य में नवगीतकार से अधिक कोई दूसरा नहीं जान सका ।"[१६३] विदेश में जाकर बस गये व्यक्ति की नवगीतात्मक अभिव्यक्ति देखने योग्य है जिसमें वह भारतीय 'पाहुन' से अपनी मातृभूमि को प्रणाम तथा गंगा से राम-राम कहना नहीं भूलता है -

"उस ओर जा रहे पाहुन
मेरी भी अरज जरा सुन
उन शिखरों को मेरे प्रणाम कहना
गंगा से मेरी राम-राम कहना ।"[१६४]

पुरातात्विक उपदानों को मिथक के माध्यम से नवगीत में उकेरने का आशय स्थूल चित्रात्मक अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि इन वास्तु-शिल्पों के माध्यम से कवि के एहसास को ही प्रायः अभिव्यक्ति मिली है । पुरातत्वीय सम्पदा में किसी भी राष्ट्र का इतिहास, संस्कृति, सभ्यता एवम् जातीय पहचान गुँथी हुई होती है । वह देश के इतिहास का जीवन्त और मौन-मुखर साक्ष्य है । मूक पाषाणों से मानवीय कौशल, चिन्तनधारा और जन संवेदनाएँ प्रकट होती हैं । यह सिर्फ संयोग नहीं हैं कि नवगीत में पुरातात्विक-ऐतिहासिक दृष्टिबोध सजग और सम्पन्न है । नवगीत में पुरातात्विक मिथक आधुनिक मन को अतीत की स्मृति से जोड़ते हैं -

"रेत में सूखी नदी की
मैं अजन्ताएँ बनाता हूँ
द्वार पर बैठा गुफा के
मैं तथागत गीत गाता हूँ
बोध के ये क्षण मुझे लगता

कि मैं खुद से बड़ा हूँ ।''[165]

मानव जीवन की सार्थकता को तलाशते, जीवन-सत्य को उद्‌घाटित करते और कभी मानव-मूल्यों का निदर्शन तथा प्रच्छन्न सन्देश नवगीतों में व्यक्त हुआ है जिनमें दैहिक अथवा भौतिक तृष्णा को हेय और युद्धलिप्सा को निस्सार करार दिया गया है -

''उत्खनन किया है मैंने
गहराई तक अतीत का
सिन्धु सभ्यता से अब तक
मुझको एक ही स्तर मिला
ईंट-पत्थरों के घर थे
सोने का नहीं घर मिला
युद्धों के अस्त्र मिले पर
वृत्त नहीं हार-जीत का ।''[166]

शिल्प-कला के प्राचीनतम अवशेष, सभ्यताओं एवम् कालचक्र-प्रवाह के उत्थान-पतन के सहचर हैं । वे समकालीन और आगामी पीढ़ी को गूढ़ व अव्यक्त सन्देश देते हैं -

''नमक की हवाएँ टकराती हैं
अब भी कोणार्क से
गुमसुम सातों घोड़े ताक रहे
सूरज की ओर धँसी आँख से
पत्थर के बने हुए अर्क देव
हार गये सर्वशक्तिमान
महाकाल से ।''[167]

ऐसे कइयों नवगीतांश उद्‌धृत किये जा सकते हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि पौराणिक, ऐतिहासिक व पुरातात्विक प्रसंगों का काव्याभिव्यक्ति बनाते हुए भी नवगीतकार अतीत के प्रति सम्मोहित नहीं है बल्कि वह उसकी अन्तश्चेतना की स्मृति के अंग हैं जो युगीन जीवन को पुनःसर्जित करने के लिये अभिप्रेरित करते हैं । नवगीतों में सन्दर्भित मिथक मुख्यतः रामायण एवम् महाभारत तथा पुरातात्विक एवम् ऐतिहासिक घटनाओं से जुड़े हैं किन्तु इनके अतिरिक्त वैदिक आख्यानों से लेकर बौद्ध कथाओं तथा कालिदास एवम् भवभूति की रचनाओं तक व्याप्त हैं और उनसे भी आगे वे तुलसी, कबीर, मीरा एवम् निराला को भी अनेक स्थलों पर मिथकीयता प्रदान करते हैं । कुछ और उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

''गिरती दीवाल रोक लेने को,
एक भजन मण्डली उपासी ।।
यात्राएँ भूल रहे मेघदूत,
भूल रहे विरहाकुल संगी ।

वह कुबेर अलका तक आ पहुंचा,
यक्षप्रिया व्याकुल तन्वंगी ।।
द्रौपदियाँ नग्न हो रही हैं
एक चीर भेटो अविनाशी ।।"[१६८]

०० ०० ०० ०० ००

"कितना घायल है अधमरा,
एक यक्षप्रश्न में युधिष्ठिर
ओछी इच्छाओं ने फिर सृष्टा,
एक महाभारत का व्योमतिमिर ।।
एक कृष्ण व्याध ने विदीर्ण किया,
शंख चक्र कौन ने चुराया ।
चिरअरण्य विचरण में श्रांत-श्रांत,
कन्धों पर अपना ही शव लिये ।
अट्टहास करती पागल प्रज्ञा
उन्मादिन आसुरि आसव पिये ।।
बाध्य हुए सूरज ने जाने क्यों,
भोर-पर्व रात में मनाया ।"[१६९]

०० ०० ०० ००

एक प्रार्थना जागी कि पंछी नाचे पंख पसार
राग भैरवी छेड़े कोई
बेला है अनुकूल ।
सुबह घूमने निकले थे हम
गये रास्ता भूल ।
मन्दिर की घंटियाँ बजीं, मस्जिद में हुई अजान ।
शायद गहरी निद्रा में थे करुणानिधि भगवान ।"[१७०]

०० ०० ०० ०० ००

"गंगा जल देना था जिनको
मय की बोतल लिये मिले वो,
प्रहरी थे जो राजनगर के
सेंध लगाते हुए मिले वो,
बड़ी-बड़ी बातें अधरों पर
इंच-इंच भर की मुस्कानें ।"[१७१]

०० ०० ००

"कालिदास, सच-सच बतलाना !
इन्दुमती के मृत्युशोक से
अज रोया या तुम रोये थे ?
कालिदास सच-सच बतलाना !
शिवजी की तीसरी आँख से
निकली हुई महाज्वाला में
घृतमिश्रित सूखी समिधा-सम
कामदेव जब भष्म हो गया
रति का क्रन्दन सुन आँसू से
तुमने ही तो दृग धोये थे ?
कालिदास, सच-सच बतलाना
रति रोई या तुम रोये थे ।"[१७२]

०० ०० ००

"ज्ञान गठरिया सिर पर लादे
फिरे देश-परदेश
हमारे उजले हो गये केश ।
तुलसीमाला जपी पढ़ी रामायण की चौपाई
किया व्यास को नमन महाभारत की गाथा गाई
कभी कबीर-सूर बन बैठे, बाँची किसलय कविता
किन्तु समय की कुटिल चाल पर
चला नहीं उपदेश
हमारे उजले हो गये केश ।"[१७३]

अतः अध्ययन से स्पष्ट है कि नवगीतों में मिथकीय प्रसंगों की उद्‌भावना भरपूर हुई है । यहाँ मिथक-प्रयोग अधिक परिपक्व रूप में प्रस्तुत हुआ है । इससे गीत की अर्थवत्ता तो बढ़ी ही है, साथ ही उसे क्लासिकी आधार भी मिला है । "धर्म भारतीय जीवन की बुनियाद है । वह भारतीय भूमि के पुष्प में सुगन्ध की भाँति आवेष्टित है, उससे अलग भारतीयता की पहचान थोथी है । पौराणिक ख्यानों के सूत्रों से धर्म का पट बुना गया है, पौराणिक आख्यान और चरित्र ही धर्म का स्वरूप निर्धारित और विश्लेषित करते जाते हैं । नवगीत में न सिर्फ पौराणिक आख्यानों के संकेत मिलते हैं बल्कि राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि पौराणिक-ऐतिहासिक नामों का उल्लेख भी अनके बार हुआ है। पौराणिक मिथकों का भी अबाध प्रयोग किया गया है। किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन सबका उपयोग आधुनिक सन्दर्भों को उजागर करने और क़थ्य को विशेष सन्दर्भ से संयोजित करने के लिये ही किया गया है । वस्तुतः पौराणिक आख्यान व चरित्र लोकजीवन में बहुत गहरे धंसे होते हैं। इनके लिए जन-जीवन का सुशिक्षित होना जरूरी नहीं है, बल्कि बहुश्रुत होने व जन-आस्था से सम्बन्धित

होने के कारण ये आख्यान सहज ग्राह्य होते हैं। कविता में इन पुरागाथाओं के सहारे की गयी अभिव्यक्ति अधिक सहजता से प्रेषणीय होती है।"[१७४]

अतः सारांशतः यह कहा जा सकता है - नवगीत भारत की आत्मा को प्रतिबिम्बित करने वाली कविता है, क्योंकि वह वैदिक-सैन्धव-सभ्यता के काल से जुड़ी हुई वास्तविक भारतीय कविता है। किन्तु साथ ही वह समस्त सड़ीगली नैतिक, सामाजिक, धार्मिक रूढ़ियों से पूर्णतः असम्पृक्त है। वह भारतीय मनीषा के अखण्ड वाग्प्रवाहकी अधुनातन धारा है, जिसमें भारत की आत्मा प्रवाहमान है।"

संदर्भ सूची :-

१. नवगीत दशक - २, पृष्ठ २७
२. वही, पृष्ठ ३८
३. नवगीत दशक - १, पृष्ठ १३
४. नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ ११३
५. वही, पृष्ठ ११२
६. डॉ. सत्येन्द्र शर्मा : नवगीत-संवेदना और शिल्प, पृष्ठ ३१३-३१४
७. श्रीकृष्ण तिवारी : नवगीत दशक-२, पृष्ठ १०८
८. अमरनाथ श्रीवास्तव : वही, पृष्ठ १३७
९. भव्यभारती : नवगीत शिखर (१९९९), पृष्ठ ३१
१०. नवगीत दशक-२, पृष्ठ १२५
११. डॉ. विष्णु विराट : धूम्रवन से लौटते हुए, पृष्ठ १३
१२. डॉ. विष्णु विराट : वागर्थ - सितम्बर १९९९, पृष्ठ २४
१३. डॉ. विष्णु विराट : धूम्रवन से लौटते हुए, पृष्ठ १९
१४. वही, पृष्ठ २१
१५. डॉ. सत्येन्द्र शर्मा : नवगीत : संवेदना और शिल्प, पृष्ठ २३६
१६. गुलाब सिंह : नवगीत दशक-२, पृष्ठ ९८
१७. वही, पृष्ठ ९९
१८. सुधांशु उपाध्याय : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ २७३
१९. कुँअर बेचैन : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ ७५
२०. प्रेम तिवारी : वही, पृष्ठ १५३
२१. विजय किशोर : नवगीत दशक-३, पृष्ठ ६८
२२. केदारनाथ अग्रवाल : प्रगतिशील काव्य धारा और केदारनाथ अग्रवाल (सं. डॉ.रामविलास शर्मा) पृष्ठ १४३
२३. अनूप अशेष : वह मेरे गांव की हंसी थी, पृष्ठ २०
२४. डॉ. सत्येन्द्र शर्मा : नवगीत : संवेदना और शिल्प, पृष्ठ २३७-२३८
२५. केदारनाथ अग्रवाल : विचार बोध, पृष्ठ ९३
२६. डॉ. सत्येन्द्र शर्मा : नवगीत-संवेदना और शिल्प, पृष्ठ २३४
२७. डॉ. राम मनोहर लोहिया : द्रौपदी या सावित्री (सं. अरविन्द कुमार), पृष्ठ २७
२८. नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ, पृष्ठ २२६
२९. नवगीत दशक-३, पृष्ठ १२१
३०. कुमार रवीन्द्र : आहत हैं वन, पृष्ठ ७८

३१. सुधांशु उपाध्याय : नवगीत दशक-३, पृष्ठ ५६
३२. अखिलेश कुमार सिंह : वही, पृष्ठ २६
३३. नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ ९२
३४. अनूप अशेष : वह मेरे गांव की हंसी थी, पृष्ठ ६
३५. वीरेन्द्र मिश्र
३६. निर्मलेन्दु शुक्ल : नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ ७०
३७. नवगीत दशक-३, पृष्ठ ९८
३८. डॉ. सत्येन्द्र शर्मा : नवगीत : संवेदना और शिल्प, पृष्ठ २३५
३९. डॉ. सत्येन्द्र शर्मा : नवगीत : संवेदना और शिल्प, पृष्ठ २२८-२३०
४०. निराला : अपरा, पृष्ठ १६०
४१. विजय किशोर : नवगीत दशक-३, पृष्ठ ७१
४२. डॉ. सुरेश : वही, पृष्ठ ४९
४३. अमरनाथ श्रीवास्तव : नवगीत दशक-२, पृष्ठ १३२
४४. धूम्रवन से लौटते हुए, पृष्ठ ६५
४५. किनारे के पेड़, पृष्ठ ४५
४६. सच्चिदानंद सिंह 'समीर' : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ २६४
४७. नईम : नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १५१
४८. सुरेन्द्र काले : नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १७५
४९. गुलाबसिंह : नवगीत दशक-२, पृष्ठ ९९
५०. सोमठाकुर : नवगीत दशक-१, पृष्ठ ४०
५१. रामचन्द्र चन्द्रभूषण : नवगीत दशक-१, पृष्ठ ११६
५२. नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ २६५
५३. नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १९५
५४. वही, पृष्ठ १३९
५५. वही, पृष्ठ ११३
५६. रमेश रंजक : किरन के पाँव, पृष्ठ ११-१२
५७. नवगीत दशक-२, पृष्ठ ८४
५८. डॉ. विष्णु विराट : धूम्रवन से लौटते हुए, पृष्ठ ५७
५९. डॉ. शम्भुनाथ सिंह : वक्त की मीनार पर, पृष्ठ १
६०. रमेश रंजक : रास्ता इधर है, पृष्ठ ४५
६१. केदारनाथ अग्रवाल

६२. उमाशंकर तिवारी : धूप कड़ी है, पृष्ठ ११
६३. यश मालवीय : नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ ११५
६४. डॉ. विष्णु विराट : धूम्रवन से लौटते हुए, पृष्ठ ४७
६५. प्रेम तिवारी : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ १५३
६६. अखिलेश कुमार सिंह : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ ३८
६७. नईम : नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १४९
६८. नईम : धर्मयुग, २१ सितम्बर, १९८०
६९. रवीन्द्र भ्रमर : नये-पुराने, गीत अंक-४, पृष्ठ १९९
७०. डॉ. सत्येन्द्र शर्मा : नवगीत-संवेदना और शिल्प, पृष्ठ २३२
७१. डॉ. सुरेश गौतम : नवगीत-इतिहास और उपलब्धि, पृष्ठ ४९
७२. बालस्वरूप राही : (गीत-१), पृष्ठ १०
७३. राजेन्द्र गौतम : हिन्दी नवगीत, उद्भव और विकास, पृष्ठ १२५
७४. उमाकान्त मालवीय : सुबह रक्त पलाश की, पृष्ठ ५४
७५. वही : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ ६१
७६. वीरेन्द्र मिश्र : अविराम चल मधुवन्ती, पृष्ठ २८
७७. वही : झुलसा है छायानट धूप में, पृष्ठ १०
७८. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' : नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १२९
७९. श्रीकृष्ण तिवारी : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ २६१
८०. वही, पृष्ठ २६२
८१. नवगीत (प्रवेशांक), पृष्ठ २२
८२. वही, पृष्ठ २०
८३. राम सेंगर : नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १३७
८४. नईम : नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १५१
८५. वही, पृष्ठ १५२-१५३
८६. दिनेश सिंह : वागर्थ-अक्टूबर १९९९, पृष्ठ ६८
८७. श्रीकृष्ण तिवारी : नवगीत दशक-२, पृष्ठ ११४
८८. कुमार शिव : वही, पृष्ठ २३
८९. डॉ. विष्णु विराट : भव्य भारती-नवगीत शिखर अंक १९९९, पृष्ठ ४१
९०. डॉ. शम्भुनाथ सिंह : विमर्श - १९७२ अंक-४ (सं. डॉ. मदनगोपाल गुप्त), पृष्ठ ६६
९१. नईम : वही, पृष्ठ ९८
९२. डॉ. सुरेश गौतम, वीणा गौतम : नवगीत - इतिहास और उपलब्धि, पृष्ठ ५३

९३. डॉ. सत्येन्द्र शर्मा : नवगीत-संवेदना और शिल्प, पृष्ठ २७०
९४. ठाकुर प्रसाद सिंह : वंशी और मादल, पृष्ठ १३
९५. ठाकुर प्रसाद सिंह : वही, पृष्ठ ८५
९६. अनूप अशेष : लौट आयेंगे सगुन पंछी, पृष्ठ ६७
९७. अनूप अशेष : नये-पुराने, गीत अंक-४, पृष्ठ १०९
९८. उमाकान्त मालवीय : एक चावल नेंह रींधा, पृष्ठ ८९
९९. नईम : नवगीत दशक-१, पृष्ठ २४
१००. शिव बहादुर सिंह 'भदौरिया' : महानगर में गाँव की याद
१०१. इसाक अश्क : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ ५४
१०२. अनूप अशेष : लौट आयेंगे सगुन पंछी, पृष्ठ ५१-५२
१०३. नवगीत दशक-१, पृष्ठ १०४
१०४. गीत-२, पृष्ठ २८
१०५. नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ ८२
१०६. नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १७६
१०७. नया प्रतीक, सितम्बर १९७७, पृष्ठ ८०
१०८. नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १८५
१०९. अनिल कुमार गौड़ : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ ४०-४१
११०. अमरनाथ श्रीवास्तव : नये-पुराने, गीत अंक-४, पृष्ठ १३५
१११. दिनेश सिंह : नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १९७
११२. बालकृष्ण मिश्र : नये-पुराने, गीत अंक-४, पृष्ठ ६१
११३. किसन सरोज : धर्मयुग, २४ फरवरी १९८४
११४. नारायण लाल परमार : नवगीत (प्रवेशांक), पृष्ठ २२
११५. राजेन्द्र गौतम : गीत पर्व आया है
११६. केदारनाथ अग्रवाल : फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृष्ठ ३१
११७. राम दरश मिश्र : पक गयी है धूप
११८. हरीश निगम : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ २९५
११९. कैलाश गौतम : वही, पृष्ठ १८८
१२०. अनायास वर्षा, पृष्ठ ७
१२१. हरसिंगार कोई तो हो
१२२. नवगीत दशक-३, पृष्ठ ७२
१२३. होंठ नीले धूप में, पृष्ठ ४५

१२४. नवगीत दशक-३, पृष्ठ २१

१२५. धर्मयुग-४ नवम्बर, १९७३

१२६. सन्नाटे की झील, पृष्ठ ५१

१२७. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २२ अक्तूबर १९७८

१२८. भव्य भारती : नवगीत शिखर-१९९९, पृष्ठ १७

१२९. नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १३१

१३०. अवकाश, जून (द्वितीय), १९८०

१३१. दैनिक हिन्दुस्तान, अगस्त १९८९

१३२. नये-पुराने, गीत अंक-४ १९९९, पृष्ठ ११३

१३३. भव्य भारती : नवगीत शिखर-१९९९, पृष्ठ ४१

१३४. अवकाश, जुलाई (प्रथम), १९७९

१३५. राजेन्द्र गौतम : हिन्दी नवगीत-उद्भव और विकास, पृष्ठ १४३

१३६. कुमार रवीन्द्र : भव्य भारती - नवगीत शिखर-१९९९, पृष्ठ २३

१३७. नवगीत दशक-३, पृष्ठ ६२

१३८. डॉ. विष्णु विराट : वागर्थ-सितम्बर, पृष्ठ २४

१३९. कुमार रवीन्द्र : नये-पुराने, गीत अंक-४, पृष्ठ १००

१४०. नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ १३६

१४१. नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १५१

१४२. नवगीत अर्द्धशती, ४८

१४३. धूम्रवन से लौटते हुए, पृष्ठ ५१

१४४. नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ ६०-६१

१४५. नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १७५

१४६. भव्य-भारती-१९९६-९७, पृष्ठ ६

१४७. वही, पृष्ठ ८

१४८. वही, पृष्ठ ८

१४९. वही, पृष्ठ ९

१५०. नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १६८

१५१. वही, पृष्ठ १६९

१५२. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ १२७

१५३. वही, पृष्ठ १२८

१५४. नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ १३०

१५५. वही, पृष्ठ ५५
१५६. वही, पृष्ठ ८३
१५७. नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ ९७
१५८. निर्मल वर्मा : कला का जोखिम, पृष्ठ २७
१५९. उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृष्ठ १९
१६०. घनश्याम आस्थाना : यात्रा में साथ-साथ, पृष्ठ १०
१६१. नरेन्द्र श्रीवास्तव : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ १४०
१६२. रामचन्द्र चन्द्रभूषण : नवगीत दशक-१, पृष्ठ ११२
१६३. डॉ. सत्येन्द्र शर्मा : नवगीत-संवेदना और शिल्प, पृष्ठ २६६
१६४. उमाकान्त मालवीय : एक चावल नेह रींधा, पृष्ठ ३६
१६५. शम्भुनाथ सिंह : वक्त की मीनार, पृष्ठ ९
१६६. शम्भुनाथ सिंह वही, पृष्ठ ४३
१६७. वही, पृष्ठ ४१
१६८. डॉ. विष्णु विराट : भव्य भारती १९९६-९७, पृष्ठ ७
१६९. वही, पृष्ठ ७
१७०. रवीन्द्र भ्रमर : नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १८०
१७१. यश मालवीय : वही, पृष्ठ ११३
१७२. नागार्जुन : नये-पुराने, गीत अंक-४ (१९९९), पृष्ठ १८७
१७३. रवीन्द्र भ्रमर : वही, पृष्ठ १९६
१७४. डॉ. सत्येन्द्र शर्मा : नवगीत-संवेदना और शिल्प, पृष्ठ २६५